...म - प्रदीप

...दाचार - चन्द्रिका



मधुर - प्रकाशन, देहली - ६.

* ओ३म् *

यम-नियम-प्रदीप

अर्थात्

सदाचार-चन्द्रिका



लेखक

श्री जगत्कुमार शास्त्री 'साधुसोमतीर्थ'

प्रकाशक

मधुर-प्रकाशन

आर्य समाज मन्दिर,

सीताराम बाजार, देहली-६

तृतीय वार] [३) रुपया

प्रकाशक

राजपाल सिंह शास्त्री

अध्यक्ष, मधुर-प्रकाशन, आर्य समाज मन्दिर,

सीताराम बाजार, देहली-११०००६

द्वितीय संस्करण : फरवरी १९७८

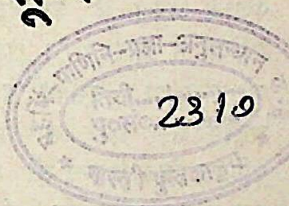
मूल्य : ३) रुपये

मुद्रक—यादव प्रिंटिंग प्रेस,

बाजार सीताराम, देहली-६

* ओ३म् *

कल्याण-सूत्र



[१]

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः ।

[योग दर्शन, साधन-पाद, सूत्र ३०]

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच व्रतों के समुदाय को यम कहते हैं ।

[२]

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्राणिधानानि नियमाः ।

[योग-दर्शन, साधन-पाद, सूत्र ३२]

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान इन पाँच व्रतों के समुदाय को नियम कहते हैं ।

प्रवर्त्तना

जुलाई सन् १९६० ई० में अपनी वेद-कथा के सिलसिले में पंजाब प्रदेश के बटाला नामक नगर में वहां के आर्य समाज मन्दिर में ठहरा था। तब वहीं सात दिन में मैंने इस पुस्तक को रचा था। इसकी रचना की प्रेरणा मुझे आर्य समाज के महोपदेशक और साप्ताहिक 'आर्य-जगत' के सम्पादक श्री पण्डित त्रिलोकचन्द जी शास्त्री से मिलो थी। लिखकर मैंने इस पुस्तक की पाण्डु-लिपि उक्त शास्त्री जी की सेवा में भेज दी थी। उन्होंने इसे 'यम-नियम-लेखमाला' के रूप में 'आर्य—जगत' में प्रकाशित कर दिया था। फिर जुलाई सन् १९६५ में आर्य प्रेमी कार्यालय अजमेर ने इसे पुस्तक रूप में छापा था।

वर्तमान रूप में प्रस्तुत करने के लिए इस पुस्तक में आवश्यक संशोधन और परिमार्जन किया गया है। पण्डिताऊपन को इस पुस्तक से यथासम्भव दूर ही रखा गया है। जिसको सर्वहितकारी यम अथवा सार्वभौम-धर्म कहते हैं, वह और कुछ नहीं, वह तो यह वैदिक-सदाचारवाद ही है, जो कि योग-दर्शन की भाषा में यम-नियम कहलाता है।

यम-नियमों के विषय में सभी बातों का उल्लेख इस पुस्तक में यथास्थान किया गया है। इस पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने के लिए, यदि कोई प्रस्ताव आयेगा, तो उस पर पूरा-पूरा ध्यान दिया जायेगा। नवयुवकों और नवयुवतियों में इस पुस्तक का प्रसार अधिकाधिक होना चाहिए। सदाचार-आन्दोलन की सफलता के लिए इसका उपयोग 'सदाचार-चद्रिका' के रूप में किया जाये।

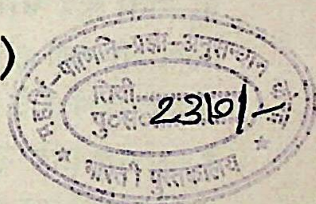
अप्रैल १९६६

जगत्कुमार शास्त्री 'साधु सोमतीर्थ"

॥ ओ३म् ॥

यम-नियम-प्रदीप

(सदाचार-चन्द्रिका)



(१)

अहिंसा

प्रेम शब्द का जो अर्थ प्रसिद्ध है, वही सम्पूर्ण अर्थ "अहिंसा" इस शब्द का भी है। अहिंसा की विशेषता यह है कि इसका क्षेत्र प्रेम की अपेक्षा अधिक व्यापक है। हिंसा का अर्थ है —मन से, वचन से या कर्म से किसी को कष्ट पहुँचाना, किसी का दिल दुखाना। और अहिंसा का अर्थ है—मन से, वचन से, कर्म से किसी को भी कष्ट न पहुँचाना। इस प्रकार अहिंसा-व्रत भी सर्वभूतहित तथा विश्वप्रेम का ही रूप है।

अहिंसा-व्रत के अनुष्ठान के साथ तुरन्त ही इस व्रत का लाभ साधक को मिलना प्रारम्भ हो जाता है। जब हम किसी को न सतायेंगे, तब कोई हमें क्यों सतायेगा ? जब हम किसी का बुरा न सोचेंगे, तब कोई हमारा बुरा क्यों सोचेगा ? जब हम किसी को अपशब्द न

बोलेंगे, तब कोई हमें अपशब्द क्यों बोलेगा ? यह एक अटल नियम है कि जब क्रिया होती है, तभी प्रतिक्रिया भी होती है। और जब क्रिया नहीं होती, तब प्रतिक्रिया भी नहीं होती। हम स्वीकार करते हैं कि दुर्जन भी संसार में होते हैं और वे सज्जनों को सताया करते हैं। परन्तु यदि हम सज्जन हैं, तो क्या हम दुर्जनों से प्रेम नहीं कर सकते ? क्या हमारी सज्जनता हमें इस बात को अनुमति देती है कि दुर्जनों के मुकाबले में हम भी दुर्जन बन जायें ?

दुर्जनता से घृणा की जाये, यह तो ठीक है, परन्तु दुर्जनों से घृणा क्यों ? दुर्जन मनुष्य रोगी ही तो हैं। उनका रोग मानसिक है। रोगी जन तो दया के पात्र होते हैं उनका तो औषधोपचार ही कर्त्तव्य है। जैसे मैले वस्त्र को धोया जाता है, वैसे ही हमें दुर्जनों को भी सज्जन बनाना होगा। हमारी सज्जनता की यही माँग है। हमें सहनशीलता से काम लेना ही होगा। मानवता के संरक्षण के साथ हमें अपनी सज्जनता को भी सुरक्षित रखना होगा।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में ऐसे अवसर आया ही करते हैं, जब उसके सामने यह करूँ या वह ? ऐसी समस्या आ उपस्थित होती है। ऐसे अवसरों पर

निकटस्थ विज्ञजनों से परामर्श करना लाभदायक होता है। यह एक शास्त्र का विधान है। दूसरे शास्त्र का विधान यह है कि मनुष्य दूसरों के प्रति वही व्यवहार करे, जो कि वह चाहता है कि दूसरे उसके साथ करें। किसी मनुष्य को दूसरों के प्रति ऐसा व्यवहार न करना चाहिये, जो कि वह चाहता है कि दूसरे उसके साथ न करें। आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्। और आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।

क्रोध से क्रोध शान्त नहीं होता। वैर से वैर शान्त नहीं होता। अक्रोध से ही क्रोध शान्त होता है। और अवैर से ही वैर शान्त होता है। बदला लेने से झगड़ा शान्त नहीं होता। बदले की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप झगड़ा और भी अधिक उग्र रूप धारण कर लेता है। झगड़ा तो क्षमा और सहनशीलता से ही शान्त होता है। क्रिया की प्रतिक्रिया को रोक देने और कर्म के बन्धन को काट देने की शास्त्रीय युक्ति भी यही है। तभी तो कहा है :—

आवत गाली एक है, पलटत होय अनेक।
ताहि कबहुँ ना पलटिये, वही एक की एक॥

आत्मरक्षा, अथवा देश या जाति की रक्षा के लिये श्रेष्ठ पुरुषों के नेतृत्व में जो शास्त्रानुमोदित

सशस्त्र प्रयोग आपद्धर्म के रूप में. जब-तब आवश्यक मान कर, किये जाते हैं, यह अहिंसा-धर्म उनका विघातक नहीं है। इसके साथ ही यह मुख्य रूप से अध्यात्मवादी जनों के लिये विशेष उपयोगी है। यह समूह का धर्म नहीं है, सुसभ्य व्यक्ति का धर्म है।

अपने धनबल, जनबल, पशुबल आदि का अभिमान करना, दूसरों को तुच्छ समझना, या उनको हेय दृष्टि से देखना भी एक प्रकार की हिंसा अर्थात् परपीड़ा-वृत्ति ही है। निन्दा भी वाणी की हिंसा का कर्म है। अतः इन दोनों से भी बच कर रहना आवश्यक है।

तिनका भी न निन्दनीय, चाहे हो पाँव तले।
पीड़ा देता है बहुत, जब वह उड़ि अंखियन पड़े॥

लोक-व्यवहार में अहिंसा-व्रत का व्यवहार जीव-दया के रूप में कुछ-कुछ होता है। जीवों के प्रति दया का व्यवहार भी वास्तव में अहिंसा ही है, परन्तु अहिंसा का अर्थ वास्तव में केवल मात्र दया करना ही नहीं है। दया एक उत्तम वृत्ति तो है, तथापि दयावान पुरुष के मन में किसी दीन-दुःखी पर दया करने से एक प्रकार का अभिमान उपजा करता है। यह अभिमान दया कर्त्ता की आत्मिक उन्नति में बाधक बन जाया करता है। दया करना बुरा नहीं

है। फिर भी इतनी तो सावधानता रखनी ही चाहिये कि मनुष्य दया करे, और जहाँ तक हो सके वहाँ तक किसी की दया का पात्र भी न बनें। जीवन का सच्चा सुख तो स्वतन्त्र और स्वावलम्बी जन ही उठाते हैं।

मांस-भक्षण से अहिंसा-व्रत नष्ट होता है। ऐसा इसलिये नहीं होता कि मांस रोगकारक, तमोगुण-वर्धक अथवा बुद्धिनाशक होता है, अपितु व्रत भंग इसलिये होता है कि किसी जीव को पीड़ा पहुँचाये बिना भक्षण के लिये मांस की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। यदि कोई कहे कि जो जीव अपनी मौत मर जाये, उसका मांस खाने में क्या दोष है? तब उसे समझना चाहिये कि इस क्रूर कर्म में भी बहुत दोष है। क्रूरता के साथ ही शौच-व्रत का उल्लंघन तो स्पष्ट ही है।

अहिंसा व्रत का पालन करने वाले सभी साधकों को उचित है कि वे सच्चे मन से सतर्कतापूर्वक आचरण करें। उनके चिन्तन, सम्भाषण और आचरण में एकरूपता हो। उनका अहिंसा-व्रत लोक-दिखावा मात्र न हो। ऐसा न हो कि वे मोटे नफे और सूद-दर सूद के द्वारा एक ओर तो मानवता का भक्षण करते रहें और दूसरी ओर लोगों को दिखाने और फांसने के लिये चिउंटियों को चावल डाला करें।

सत्य

सत्य की सनातन और अमोघ शक्तियाँ संसार में चुपचाप ही अपना काम कर रही हैं। सच्चाई की आवाज को न तो अधिक समय तक दबाया जा सकता है और न ही अनसुना किया जा सकता है। धोखा-धड़ी और दम्भ या ढोंग की दुकान अधिक नहीं चला करती। सच्चाई आखिर सच्चाई है। यह हजार पर्दे फाड़ कर भी प्रगट हो जाती है।

सच्चाई छिप नहीं सकती, बनावट के उसूलों से।
कि खुशबू आ नहीं सकती, कभी कागज के फूलों से॥

पाप और ताप के निवारण की शक्ति भी एकमात्र सत्य में ही है। लोग झूठ बोलते हैं। एक झूठ को सत्य प्रमाणित करने के लिये दूसरा झूठ बोलते हैं। दूसरे झूठ को सत्य प्रमाणित करने के लिये तीसरा झूठ बोलते हैं। फिर चौथा, फिर पांचवाँ, फिर छठा, फिर सातवाँ। फिर और, फिर और। इस प्रकार वे एक बहुत लम्बी और सर्वथा निराधार झूठ की परम्परा को जन्म दे देते हैं। ऐसा करते-करते वे आप ही अपने ताने-बाने में उलझ जाते हैं। सच्चाई प्रगट हो जाती है। कोई बड़े से

बड़ा पाखण्डी, मक्कार और झूठों का सरदार भी क्यों न हो, उसकी पोल तो अवश्य ही एक दिन खुलने वाली है। जब पोल खुलती है, तब बड़े-बड़े पाखण्डियों का नशा हिरण हो जाता है। सत्यशील जनों के लिये तो चिन्ता की कोई बात ही नहीं है।

सदाचार और शिष्टाचार का प्रसार, धर्म का प्रचार, सद्ग्रन्थों का भाष्य और निर्माण, केवल सत्य-व्रतपरायण लोगों का ही काम है। नहीं-नहीं, यह एकमात्र उनका ही अधिकार है। यूँ तो झूठे लोग भी स्वार्थ-सिद्धि और लोग-दिखावे के लिये इन कामों में संलग्न पाये जाते हैं, परन्तु वे इन कामों के अधिकारी नहीं हैं। सत्य के प्रचार का काम झूठे और पाखण्डी लोग करें, इससे बढ़कर विडम्बना और क्या होगी?

सत्य में ही वह चमत्कारपूर्ण शक्ति विद्यमान है, जो कि निरोग जीवन प्रदान करती हैं, और जो कि प्रत्येक कार्य में सफलता के साथ जीवन में शोभा का भी संचार करती है। सत्य में ही वह प्रभाव है जो कि पापी को पाप से निवारता है। सत्य की शक्तियाँ ही शान्ति, सात्विकता, समृद्धि और समस्त शुभकर्मों का संरक्षण करने वाली हैं।

सत्य की महिमा बहुत अधिक है। सत्य का

प्रभाव अमोघ है। सत्य से बढ़कर कोई धर्म, कोई कर्म, कोई नीति, कोई तत्व और कोई ज्ञातव्य वस्तु इस संसार में नहीं है। सत्य क्या है ? और असत्य क्या है ? कसौटी पर कस कर देखो, जानो और सदा सत्य का ही अनुसरण एवं व्यवहार करो। भगवान् भो सत्यस्वरूप हैं। वे सत्य से ही प्रेम करते हैं। सत्यवादी जन ही भगवान् को प्राप्त होते हैं। मनुष्य सत्यता के पुण्य-प्रताप से सब प्रकार के कष्टों, हानियों, विपत्तियों और अपमानों से बच जाता है।

सत्य की खोज तो चलती ही रहती है। ज्ञान की वृद्धि के साथ ही साथ मनुष्य का दृष्टिकोण भी बदलता रहता है। सत्य-व्यवहार में होने वाली कठिनाइयों के निवारण का प्रकार यह है कि जब जैसा मन में हो, तब वैसा ही बोलना, और जब जैसा बोलना, तब वैसा ही करना।

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ।
मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम् ॥

मनसा, वाचा, कर्मणा सभी कार्यों में एकरूपता ही सत्यशील जनों का लक्षण है। सत्य भी यही है। इसके विपरीत मन में कुछ और, वचन में कुछ और, आचरण में कुछ और, यह तो सब मिथ्यावाद है, असत्य है। असत्य सब अनर्थों का मूल है। सम्पूर्ण अशान्तियों और भ्रान्तियों का आदि-मूल असत्य ही है।

मन, वचन और कर्म से सत्य के धारण करने को ही श्रद्धा कहते हैं। आध्यात्मिक-जीवन का तो सबसे बड़ा सम्बल यह श्रद्धा ही है। सत्य की प्रतिष्ठा का फल लौकिक जीवन में भी बहुत ही उत्तम होता है। तभी तो कहा है कि सत्य को ग्रहण करने और झूठ का परित्याग करने के लिये सर्वदा उद्यत रहना चाहिये। और—

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हृदय साँच है, ताके हृदय आप॥

बारम्बार अनुभव और परीक्षा के द्वारा, जब सत्य का वास्तविक रूप मनुष्य के दृढ़ विश्वास का विषय बनता है, तब उस श्रद्धा के ही अधिक श्रेष्ठ रूप को निष्ठा कहते हैं। किसी मनुष्य का किसी विषय में श्रद्धावान् एवं निष्ठावान् होना, एक बड़ी सफलता है।

सत्य का सर्वाधिक प्रतिस्पर्धी तत्व असत्य है। असत्य नाना प्रकार के रूप धारण करता है। ढोंग रचता है, और पूर्ण सत्यवत् बन जाता है। भोले-भाले लोग उसे देखकर धोखा खा जाते हैं। चमक-दमक के भुलावे में आ जाते हैं। नकल को असल मान लेते हैं। परन्तु खोजो और सत्यानुरागी जन अधिक समय तक धोके में नहीं रहते। अपनी प्रबल दर्शन-शक्ति के द्वारा वे मायावी मिथ्यावादों को जान ही लेते हैं। आलंकारिक वार्त्ता है :—

चाँदी की अंगूठी पै जो सोने का चढ़ा झोल।
ओछी थी लगी बोलने इतरा के बड़ा बोल॥
चाँदी की अंगूठी के न मैं साथ रहूंगी।
यह और है, मैं और, यह जिल्लत न सहूंगी॥
मैं जात की बढ़िया हूं बड़ा मेरा घराना।
यह जात की घटिया है, नहीं इसका ठिकाना॥
यह सुनके चाँदी की अंगूठी भी गई जल।
बोली री मुलम्मे की अंगूठी तेरे छल-बल॥
सोने के मुलम्मे पै न इतरा मेरी प्यारी।
कुछ दिन में भड़क इसकी उतर जाएगी सारी॥
झूठों ने जो सच्चों को चिड़ाया भी तो फिर क्या?
कुछ देर हकीकत को छिपाया भी तो फिर क्या?
सच्चे की तो इज्जत ही बढ़ेगी जो करें जाँच।
मशहूर मसल है कि नहीं सांच को कुछ आँच॥
सोने के मुलम्मे पै न इतरा अरी अहमक।
जब ताव दिया जाएगा, हो जाएगा मुंह फक॥

विशुद्ध सत्य की प्राप्ति ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। सृष्टि-पर्यवेक्षण की विविध प्रणालियाँ तो विशुद्ध और अमिश्रित सत्य की प्राप्ति के ही विविध साधन हैं। ज्ञान, विज्ञान, प्रकाश, आलोक और सत्य शब्द एक ही श्रेष्ठभाव के प्रतिपादक हैं।

●

(३)

अस्तेय

चोरी के परित्याग को अस्तेय कहते हैं। किसी की अनुमति के बिना उसकी वस्तु को लेना, बलपूर्वक किसी के स्वत्वों का अपहरण करना, या छिपकर अथवा छिपा कर कोई काम करना, किंवा जैसा वास्तव में न हो, वैसा अपने आपको, किसी वस्तु, भाव, तत्व, तथ्य या किसी व्यक्ति को प्रकट करना, अथवा आवश्यकता से अधिक कोई वस्तु अपने पास रखना, ये चोरी के कई रूप हैं। जब कोई दूसरे की किसी वस्तु को देखकर, उसे लेने के लिये ललचाता है, तब वह मानसिक चोरी करता है। जब कोई दूसरे की बात को अपनी बात बता कर बोलता है, तब वह वचन की चोरी करता है। श्रमिक से अधिक काम लेकर उसे थोड़ी मजदूरी देना, परिश्रम की चोरी है। बेबस, गरीब के माल को थोड़े दामों में हड़पना व्यापारिक चोरी है। दूसरे के प्रकाशित या अप्रकाशित लेख वा पुस्तक आदि को अपने नाम से छपवाना साहित्य की चोरी है। जो चोर का सहायक है, वह भी चोर है।

चोरी के परिणामस्वरूप संसार में जो छीना-झपटी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, और क्रिया-प्रतिक्रियारूप उत्पीड़न की जो भीषण लहर चल पड़ती है, वह संसार के लिये भारी अकल्याणकारिणी होती है। चोरी से दूसरों की हानि तो होती ही है, स्वयं चोर को भी बहुत अधिक हानि होती है। प्रथम तो चोर का स्वभाव ही दूषित हो जाता है और वह उचित पुरुषार्थ करके धन कमाने की अपनी योग्यता को ही खो बैठता है। दूसरे जब अनुचित उपायों से धन कमाया जाता है, तब वह पुष्टिकारक कभी भी नहीं होता। वह धन शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। इसके साथ ही वह और भी बहुत-सी हानि कर जाता है। तीसरे चोर की निन्दा तो सर्वत्र होती ही है। जब कोई चोर पकड़ा जाता है, तब राज्य-दंड भी उसे भोगना पड़ता ही है। यह चोरी रूपी दुष्कर्म भी एक प्रकार की हिंसा ही है। क्योंकि जिसकी वस्तु या जिसके अधिकार का अपहरण होता है, उसे कष्ट तो पहुँचता ही है। हमने ऐसे कई चोर देखे हैं, जिन्होंने दूसरों का धन चुरा कर प्रसन्नता मनाई और जब उनके चोरी के धन में से कुछ थोड़ा-सा धन किसी दूसरे चोर ने चुरा लिया, तब वे बहुत समय तक रोते-पीटते रहे।

जो जन चौर कर्म द्वारा धनी होना चाहता है,

उनकी मूर्खता तो प्रत्यक्ष ही है। यदि वे मूर्ख न होते, तो चोरी जैसा अपराध, पाप और पर-पीड़क कर्म ही क्यों करते ? यदि कोई मनुष्य किसी प्रकार की विवशता में चोरी करता है, तब भी वह अपराधी और पापी तो अवश्य ही होता है। कोई भी चोर क्षमा करने योग्य नहीं होता, क्योंकि यदि चोरों को कठोर दण्ड न मिलेगा, तो अन्य जन भी चोरी में प्रवृत हो जायेंगे। इसके साथ ही वह समाज-व्यवस्था भी उत्तम नहीं हो सकती, जिसमें लोग विवश होकर चोरी आदि दुष्कर्मों में फंसते हैं। जो चोरों की वृद्धि करने वाली समाज-व्यवस्था वा राज्य-व्यवस्था है उसका सुधार शीघ्र ही करना चाहिये। यह काम परोपकारप्रिय, निष्पक्ष, आप्त विद्वानों का है। इसके साथ ही उन लोगों को भी दंड मिलना चाहिये, जो प्रमाद अथवा किसी भी अन्य कारणवश दूषित समाज-व्यवस्था का प्रचलन करने के अपराधी सिद्ध हों। चोर और उनके साथी भी अपने पक्ष में बहुत सी दलीलें दिया करते हैं। परन्तु हेत्वाभासों और वाक्छलों से परिपूर्ण वह चोरों का तत्व-ज्ञान संसार के लिये अकल्याणकारक ही होता है। वह चाहे जैसे चमकदार, कोमल, परिमार्जित और आश्चर्यजनक रूप में सामने आये, उसे फटकारना और दूर हटाना

चाहिये। चोरों का तत्वज्ञान तो चोरों और सज्जनों सभी के लिये हानिकारक है।

आध्यात्मिक उन्नति के लिये पवित्र उपायों और अपने सात्विक शारीरिक पुरुषार्थ से प्राप्त किये हुए अन्न और धन का विशेष महत्व है। सात्विक उपायों द्वारा प्राप्त अन्न या धन, शारीरिक पोषण के साथ ही मन की शान्ति को भी प्रदान करता है। जिस अन्न वा धन की प्राप्ति चोरी से होती है, वह तो शारीरिक हानि के साथ ही मानसिक अशान्ति, विक्षोभ और पतन का भी कारण होता है। अध्यात्मवाद के आचार्यों का आदेश है कि न केवल एक ही मनुष्य चोरी न करे, अपितु उसे उचित है कि चोरों के साथ किसी प्रकार का भी संसर्ग न रक्खे, और चोरी से प्राप्त किये हुए अन्न वा धन को किसी रूप में ग्रहण भी न करे। जब पाप का पैसा आता है, तब वह अनिष्ट के बहुत से कारणों को, तथा अनेकविधि आशंकाओं को भी अपने साथ अवश्य ही लाता है।

स्वार्थ-साधन की वे प्रणालियाँ, जिनको लोगों ने विहित और शिष्ट मान रखा है, तब चोरियाँ बन जाती हैं, जब आवश्यकता से अधिक कुछ प्राप्त किया जाता है। क्योंकि जब टीले बनाये जाते हैं, तब गड्ढे भी अपने आप ही बन जाते हैं। जो वस्तु

सड़क में पड़ी है और लावारिस समझी जाती है, उसे उठाकर यदि कोई अपने पास रख ले, तो वह भी चोरी है। हमें उसे वहीं छोड़ देना चाहिये, या खोज करके उसके मालिक के पास पहुँचाना चाहिये, अथवा राज-कोष में जमा करवाना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति के पास जो कुछ अन्न, धन, वस्त्र, मकान आदि सामान उसकी आवश्यकता से अधिक है, उसे वे अन्य अधिकारी जनों को दे दें। किसी का मान-हरण, प्राण-हरण वा परस्वत्वापहरण के तुच्छ विचार को कोई भूलकर भी अपने मत में स्थान न दें। यदि कभी किसी ने भूलवश चोरी की हो, अथवा यदि कभी कोई व्यक्ति भूलवश किसी प्रकार की चोरी कर बैठे, तो वह अपनी भूल को स्वीकार करे, और उचित रूप में अपने उस अपराध का प्रायश्चित भी करे। अपने अपराध की गुरुता को भली प्रकार समझ कर उसके लिये पश्चाताप करना, फिर कभी भी उस अपराध को न करने की प्रतिज्ञा करना, स्वेच्छापूर्वक उस अपराध का उचित दण्ड ग्रहण करना, किसी सर्वहितकारी, पक्षपात रहित सज्जन पुरुष के सामने अपने अपराध को प्रकट करना, और जिस व्यक्ति को कष्ट पहुँचा, या हानि उठानी पड़ी

हो, उससे नम्रतापूर्वक क्षमा याचना करना तथा उसकी क्षति की पूर्ति करना, इन शुभ कर्मों को सदाचार-शास्त्र को परिभाषा में प्रायश्चित कहते हैं। किसी ने ठीक कहा है :—

नदामत के आंसू गिरे आँख से।
मेरे फर्ज सारे अदा हो गये॥

जब जनता चोर होती है, तब समाज में अशान्ति बढ़ती है। जब समाज, राष्ट्र और जातियां चोरी करने लगती हैं, तब सम्पूर्ण संसार में अशान्ति फैल जाती है। अतः अखिल विश्व की सुख-शान्ति का उपाय सब प्रकार की चोरियों का परित्याग ही है।

इस अस्तेय--व्रत के अनुष्ठान का व्यावहारिक रूप यह है कि कोई कम न तोले, कोई मिलावटी माल तैयार न करे, कोई मिलावटी माल का व्यापार न करे, कोई उत्तम नमूना दिखा कर ग्राहक को घटिया माल न दे, कोई मालिक की आज्ञा या स्वीकृति के बिना उसकी वस्तु को न ले। मजदूर की पूरी मजदूरी दी जाये। कर्मचारी गण मालिकों का पूरा काम करें। किसी भी रूप में किसी के अधिकारों का अपहरण कोई न करे।

ब्रह्मचर्य

आर्ष-साहित्य में 'ब्रह्म' शब्द का व्यवहार कई अर्थों में किया गया है। आत्मा, परमात्मा, वेद, सत्य, यज्ञ, संयम, धर्म, सदाचार, सृष्टि-नियम, प्रकृति इत्यादि का अर्थ-बोध प्रकरण के अनुसार एक ही 'ब्रह्म' शब्द से होता है। बड़ाई, श्रेष्ठता और विस्तार का भाव भी 'ब्रह्म' शब्द में विद्यमान है। जो व्यक्ति ब्रह्म का विचार या व्ययहार करता है, या ब्रह्म में विचरता है, उसको ब्रह्मचारी कहते हैं। ब्रह्म विषयक आचरण और वीर्य-रक्षा के अर्थों में यह "ब्रह्मचर्य" शब्द कुछ रूढ़-सा हो गया है, परन्तु इसका अर्थ केवल इतना ही नहीं है। हां, इसका अर्थ वीर्य-रक्षा भी है। इस अर्थ का भी बहुत अधिक महत्व है। वैदिक आश्रम-मर्यादा के अनुसार मानव-जीवन का काल-विभाजन चार आश्रमों के रूप में होता है। उनमें प्रथम आश्रम जो मानवोचित जीवन-यापन अथवा मानवता के चरम-लक्ष्य को प्राप्त करने की तैयारी का आश्रम है, वह ब्रह्मचर्य कहलाता है। अन्य तीन आश्रम

क्रमशः गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास हैं। साधकों को इस "ब्रह्मचर्य" शब्द का ग्रहण और विचार इसके व्यापक अर्थों में ही करना चाहिये। यह आवश्यक है।

ईश्वर-विचार और स्तुति, प्रार्थना एवं उपासना का सम्पूर्ण कार्य-विधान ब्रह्मचर्य है। वेद-विचार और वेद-प्रचार एवं वैदिक विधि-निषेधों का अनुष्ठान भी ब्रह्मचर्य है। शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति के लिये संयमपूर्ण और अनुशासबद्ध, सक्रिय जीवन-यापन भी ब्रह्मचर्य है। यश-प्राप्ति और विश्व-प्रेम के आधार पर कर्म-क्षेत्र का विस्तार करना ब्रह्मचर्य है। सूक्ष्म नियमों का अनुसन्धान और साधारण साक्षरता से सरहस्य तत्वज्ञान-पर्यन्त बोध-प्राप्ति का सारा ही विधान 'ब्रह्मचर्य' शब्द के अन्तर्गत है।

ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ जीवन-प्रणाली भी है और सर्व-श्रेष्ठ जीवन की आधार शिला भी। ब्रह्मचर्य के साथ, जप, तप, अस्वाद तथा सहन-शीलता आदि सद्गुणों और व्रतों का अनुष्ठान भी विधिपूर्वक किया जाता है ऐसा करने से सोने पर सुहागे के समान उत्तम फल होता है। जीवन उत्तम, आचार-विचार, शालीनता और आस्तिक भाव से युक्त हो जाता है। शरीर पुष्ट, सुन्दर, सुडौल, पुरुषार्थी, कष्टसहिष्णु,

रोग-रहित और आयुष्य दीर्घ हो जाता है । ऐसी अवस्था में वह कौन-सी वस्तु है, जो दुर्लभ है ? वह कौन-सी सफलता या सम्पदा है, जो प्राप्त नहीं हो सकती ? सांसारिक और पारलौकिक, भौतिक, नैतिक और आत्मिक सभी प्रकार की सिद्धियों को ब्रह्मचारी-गण अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं ।

विद्वान् लोग एक-एक करके भेद-प्रभेद पूर्ण ब्रह्मचर्य का अर्थात् ब्रह्मचर्य के सभी रूपों और प्रकारों का अनुष्ठान करते हैं । गुरुमुख से विद्या ग्रहण करते हैं । अपने सर्वहितकारी कार्यों के द्वारा अपने शुभ विचारों का प्रकाशन करते हैं । जीवन में निरन्तर जिज्ञासु, सत्यशील, सब के मित्र, निरभिमानी और परोपकारी बनकर रहते हैं । संयम और त्यागमय जीवन व्यतीत करते हैं, समय आता है, जब कि वे अपने जीवन-संघर्ष में सामने आने वाली सभी कठिनाइयों को लांघ जाते हैं । विशेष सफलतायें, ऊँचे पद और श्रेष्ठ यश, उनको प्राप्त होते हैं । उनके भौतिक शरीर का अन्त होने पर भी, उनका यशस्वी नाम जीवित रहता है । अपनी मृत्यु के पश्चात् भी वे अमर कीर्तिमान् मानकर पूजे जाते हैं और मानवता का पथ-प्रदर्शन करने में समर्थ होते हैं । वे मानव से महा-मानव बन जाते हैं । वे मानवता के भूषण कहलाते हैं ।

सफल ब्रह्मचारी ही सच्चे देव हैं। ये देवपुरुष किसी जाति या विशेष की सम्पत्ति नहीं होते। ये तो सब के होते हैं, और सब के लिये होते हैं। राजा महाराजा तो अपने देश में ही आदर पाते हैं, परन्तु इन देवों के सामने नत-मस्तक होने में तो सारा ही संसार अपना सौभाग्य समझता है। वे जहाँ भी जाते हैं, वहां ही प्रभूत स्वागत पाते हैं।

यह ब्रह्मचर्य-व्रत स्त्रियों और पुरुषों, सभी के लिये एक समान है। आयु के प्रथम भाग में तो इसका पालन होना ही चाहिये। परन्तु आयु के दूसरे भाग अर्थात् गृहस्थाश्रम में भी इसका अनुष्ठान विशेष दृढ़ता से किया जाये। प्रत्येक पति और प्रत्येक पत्नी को यह उचित है कि वे शिष्ट मर्यादाओं और स्वास्थ्य के उत्तम नियमों के अनुसार आचरण करें। स्त्री का पुरुष के प्रति और पुरुष का स्त्री के प्रति जो स्वाभाविक आकर्षण संसार में पाया जाता है, वह मिलकर रहने, सहयोगी जीवन बिताने और सन्तानोत्पत्ति करके संसार को उत्तम नागरिक प्रदान करने के लिये ही है। जो लोग विवाह की संस्था को और दाम्पत्य-जीवन को भोग एवं विलास की खुली छुट्टी समझते हैं, वे भारी भूल में हैं। शारीरिक और आत्मिक बल

को प्राप्त करने के लिये ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन दृढ़ता-पूर्वक करो। शिष्ट, स्निग्ध, स्वस्थ और सौम्य बनो।

ब्रह्मचर्य के वीर्य-रक्षा पक्ष में यह सार्वभौम नियम भली प्रकार समझ लेना चाहिये कि मानव शरीर में वीर्य ही वह सर्वश्रेष्ठ तत्व है, जो मनुष्य को तेजस्वी, ओजस्वी, मनस्वी, मेधावी, दीर्घजीवी, सबल और पूर्ण स्वस्थ बनाता है। पाशविक जगत् और वृक्ष, लता आदि वानस्पतिक जगत् के लिये भी यह वीर्य-रक्षा का नियम मानव शरीर के समान ही महत्वपूर्ण है। तत्वज्ञानियों ने जो वीर्य-रक्षा को जीवन, तथा वीर्य नाश को मृत्यु के रूप में प्रतिपादित किया है, वह यथार्थ तो है ही, इसके साथ ही संसार का, सहस्रों शताब्दियों का अनुभव बल भी उसका समर्थक है। जैसे कच्चे या थोथे बीज से उत्तम वृक्ष और फल नहीं उपजते, वैसे ही कच्चे और थोथे मनुष्य से मानव सन्तति का सम्यक् विस्तार, विकास, संरक्षण और श्रेष्ठ नागरिकों की वृद्धि का होना भी संभव नहीं है।

ब्रह्मचर्य के विद्या-प्राप्ति और ज्ञान, विज्ञान-रक्षा पक्ष में सभी को यह तथ्य हृदयङ्गम कर लेना चाहिये कि यथार्थ ज्ञान के अभाव में तो मानवता का विकास और उत्थान ही असम्भव हो जायेगा। ज्ञान

और विज्ञान के ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्त केवल पुस्तकों में लिखे रहने के लिये, अथवा वाणी-विलास के लिये ही नहीं है। जब उत्तम सिद्धान्तों के अनुसार आचरण किया जाता है, तभी उन सिद्धान्तों का लाभ मनुष्य को पहुँचता है। जिस आनन्द को प्राप्त करने के लिये सम्पूर्ण मानव-समाज निरन्तर उत्सुक, इच्छुक और लालायित बना रहता है, उसकी प्राप्ति तो केवल मात्र ब्रह्मविचार, ब्रह्मोपासना और ब्रह्मचर्य के अनुष्ठान द्वारा ही होती है। ब्रह्मचर्य मानव जीवन को सफल, शान्त और समृद्ध बनाने की एक सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है।

अपने जीवन का आदर्श ऊँचा रक्खो। ईश्वर भक्त और वेदज्ञ बनो। ईश्वर भक्तों, वेदज्ञों, वेदवादियों और सदाचारी नर-नारियों का आदर करो। ब्रह्मचारियों को ऊंचे आसन पर बैठाओ। ऊंचे आसनों और विशेष उत्तरदायित्व वाले उच्चपदों के वास्तविक अधिकारी तो सच्चे ब्रह्मचारी ही हैं। मानव जीवन में हीन-भाव दृष्टि गोचर होते हैं, रोगों की वृद्धि दिखाई देती है, भीरुता पाई जाती है, इनका कारण ब्रह्मचर्य का अभाव ही है। ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन से ही मानव-जीवन सफल होता है।

[५]

अपरिग्रह

सार और असार अथवा आवश्यक और अनावश्यक वस्तु का विचार करके, सार और आवश्यक वस्तु एवं विचार को ग्रहण करना, तथा असार और अनावश्यक वस्तु वा विचार को त्यागना, "अपरिग्रह" कहलाता है।

आधुनिक युग की तथाकथित सभ्यता का एक बीभत्स रूप आज हमारे सामने है। इसके अनुसार वस्तुओं और विचारों का संग्रह होता है और उनकी वृद्धि पर अधिक बल दिया जाता है। यहाँ तक होता है कि हानिकारक वस्तुओं और विचारों का भी संवर्धन और संग्रह किया जाता है। ऐसा सुख की प्राप्ति और वृद्धि के नाम पर ही होता है। परन्तु इसका परिणाम तो दुःख की प्राप्ति और वृद्धि के रूप में ही निकल रहा है। ऐसा क्यों होता है ?

इसलिये कि जैसे अधिक खाने से अपच-रोग हो जाता है। उसी प्रकार अधिक और अनावश्यक विचारों तथा ऐश्वर्य के संग्रह से भी अपच-रोग हो जाता है।

जैसे अधिक खाने वा बिना भूख के खाने से शरीर में रोग हो जाता है, वैसे ही अधिक पदार्थों के संग्रह और अधिक एवं अनावश्यक विचारों के संग्रह से भी जीवन का सन्तुलन बिगड़ जाता है। इस बिगाड़ के कारण ही दुःख पैदा होते हैं। जब वस्तु-स्थिति यह है, तब सहज में ही यह समझा जा सकता है कि मनुष्य का कल्याण संग्रह-शीलता में नहीं है, अपितु त्यागवाद ही दुःखों का नाशक और सुखों का प्रवर्तक है। बस, यह त्यागवाद ही अध्यात्मवादियों की भाषा में "अपरिग्रह" कहलाता है।

संग्रह-शीलता एक प्रकार की बाल-लीला है। जैसे बच्चे रद्दी सामान को एकत्रित किया करते हैं, वैसे ही यह संग्रह-शीलता भी है। इसके साथ ही यह संग्रह-शीलता आत्म-विश्वास की एक प्रकार की कमी भी है। यह एक प्रकार की नास्तिकता भी है। इसके साथ ही यह प्रक्रिया आत्म-अपमानजनक भी है। किसी कठिनाई की कल्पना करके ही तो उसके निवारण के लिये कुछ संग्रह-शीलता तब चोरी और हिंसा बन जाती है, जबकि संग्रह जन दूसरों के अधिकारों का अपहरण ही करते हैं और दूसरों को अभाव-ग्रस्त होकर, उत्पीड़न का उपभोग करना पड़ता है।

कहना न होगा कि जब मनुष्य ईश्वर एवं उसकी

व्यवस्था पर अविश्वास कर लेता है चाहे वह इस बात को स्वीकार करे, या न करे, तभी तो वह संग्रहशील, बनता है। जिस रोटी की आवश्यकता उसे कई साल के बाद होगी, उसे वह आज ही प्राप्त करके और जमीन में गाड़ कर, या बैंक में जमा करके, सुरक्षित करना और निश्चिन्त हो जाना, फिर कुछ भी न करना, चाहता है। उचित रूप में भावी कर्तव्यों का पालन न करना, प्रमाद या उत्तम नियमों की अवहेलना करना, ये सभी नास्तिकों की बातें हैं। परन्तु आज तो जिसे भी देखो, वही पागलों की तरह धन-संचय, वस्तु-संचय में, और अनावश्यक ज्ञान-संचय वा तथा कथित विज्ञान-संचय में संलग्न है। यह नास्तिकता भी है, विवेकहीनता भी। यह सुस्पष्ट है कि यह संचय-वाद चोरी और हिंसा का ही एक रूप है। परिग्रह कहो या संचयवाद एक ही बात है।

मनुष्य को उचित है कि थोड़े-थोड़े समय के पश्चात् अपने सम्पूर्ण वस्तु-भंडार, धन-संग्रह, ऐश्वर्य और विचार-संग्रह आदि का विचार करे और देखे कि क्या अनावश्यक है ? और क्या अधिक वा व्यर्थ है ? जो वस्तु अनावश्यक, अधिक वा व्यर्थ हो, और जिसके बिना काम चल सकता हो, अथवा जो वस्तु उपयोग करने के पश्चात् अनावश्यक बन चुकी हो, ऐसी सभी

वस्तुओं को और सभी विचारों को त्यागते रहना चाहिये।

ऐसा करने से एक तो जीवन का भार कम होगा, दूसरे अधिक सारवान् पदार्थों और विचारों के लिये भी स्थान बन जायेगा। इस प्रकार अभ्यास करते-करते मनुष्य के पास सत्य, शिव, सुन्दर और भद्र पदार्थों एवं विचारों का संग्रह निरन्तर बढ़ता ही चला जायेगा। ऐसा होने पर यह असत्य, अशिव, असुन्दर और अभद्र पदार्थों, विचारों और सम्पर्कों से भी बच जायेगा। यही तो योगियों का आत्म-शोधन, मल-त्याग अथवा मल-नाश है। जीवन के चरम-लक्ष्य अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करने का मार्ग भी यही है।

प्रश्न होता है कि धन-संग्रह के लिये जो समय और शक्ति हमारे पास है, क्या उसे व्यर्थ ही गंवा दिया जाये ? यह प्रश्न बहुत भ्रामक है। उत्तर यह है कि गंवाये क्यों ? यदि हमारा कोई आत्मिक और अभौतिक लक्ष्य है, तो हमें उसे प्राप्त करने के लिये अपने साधनों और सामर्थ्य का उपयोग करना चाहिये। अन्यथा दूसरों की भलाई के लिये अपने समय, साधनों और शक्ति का दान एवं उपयोग करना चाहिये। ऐसा करते हुए पक्षपात और संग-दोष से बचना भी चाहिये। परोपकारी होना बहुत उत्तम है, परन्तु परोपकार को अपना पेशा वा व्यवसाय

बना लेना अत्यन्त निंदनीय है। इसी प्रकार पर-दुःख-कातरता उत्तम है, परन्तु दूसरों को उनके दुःख को जतलाना और उसके दूर करने में सहयोग न देना, कोई उत्तम बात नहीं है। अपितु यह तो दुःखी को और भी अधिक दुःखी करने की बात है। वर्तमान काल में जो दुःखों की अभिवृद्धि देखने में आ रही है, उसका एक बड़ा कारण पेशेवर परोपकाररियों के प्रपंच को भी समझना चाहिये। आजकल के अधिकांश उपदेशक, अध्यापक, वकील और डाक्टर पेशेवर परोपकारी ही तो होते हैं। तभी तो उल्टे परिणाम सामने आ रहे हैं। कहा है:—

सफाइयाँ हो रही हैं जितनी,
दिल उतने ही हो रहे हैं मैले।
अँधेरा छा जायेगा जहाँ में,
अगर यही रोशनी रहेगी॥

ऐसा होना भी चाहिये—

तुम्हारी तहजीब अपने खंजर
से आप ही खुदकशी करेगी।
जो शाख-ए-नाजुक पै आशियाना
बनेगा नापायदार होगा॥

जब मनुष्य शुभ विचारों से प्रेरित होकर, शुभ कार्यों को आरम्भ करता है और शुभ उपायों एवं साधनों का

हो अवलम्बन करता है, तभी उत्तम परिणाम और शुभ फल प्राप्त होते हैं। लोग अनुचित उपायों से ही शुभ फलों की प्राप्ति की आशा किया करते हैं। यह कैसी विचित्रता है ?

अपरिग्रह का पालन करने वाले साधक का स्वरूप या चरम-विकास तो किसी-किसी अवधूत के जीवन में ही देखने में आता है, जो कि बिना विशेष साधनों के और बिना किसी विशेष संगी-साथी के ही अपने सब काम चला लेता है। ऐसा सर्वस्वत्यागी, पाणि-पात्र और दिगम्बर बन कर रहना, सब किसी के लिये हितकर नहीं, अथवा यह सब के वश की बात नहीं तथापि अपनी आवश्यकताओं को कम से कम रखना, बढ़ाना नहीं, और निरन्तर घटाना, घटाते ही जाना, यह तो अपेक्षाकृत एक सरल कार्य हैं, जो अपरिग्रह-व्रतीजनों को करना है। यदि संसार के सभी सभ्यता और शिष्टता के अभिमानी सज्जन पुरुष मिल-जुल कर अपरिग्रह-व्रत का पालन करें, तो संसार के सभी झगड़े-बखेड़े तुरन्त ही शान्त हो जायें।



[६]

शौच

जैसे वस्त्र मैले हो जाते हैं, अथवा शरीर पर मैल चढ़ जाता है, वैसे ही मन भी मैला हो जाता है। बुद्धि पर भी मलिनता छा जाती है और आत्मा पर भी अविद्या एवं कुसंस्कार रूपी मल चढ़ जाते हैं। जैसे वस्त्रों को धोया जाता है, वैसे ही मन, बुद्धि और आत्मा को भी धोया जाता है। वस्त्रों की शुद्धि सोडा, साबुन आदि क्षारों से होती है। शरीर की शुद्धि जल से होती है। मन की शुद्धि सत्य से होती है। जीवात्मा की शुद्धि विद्या और तप से होती है। बुद्धि की शुद्धि ज्ञान से होती है।

यदि कोई मनुष्य आत्मिक उन्नति के लिये प्रयत्न-शील है, तो उसे सर्वप्रथम इन संशुद्धियों का सम्पादन करना होगा। सम्पूर्ण संशुद्धि के बिना आत्मिक उन्नति की उच्चतर भूमिकाओं में किसी भी साधक का प्रवेश नहीं हो सकेगा। संशोधन के इस विधान को ही अध्यात्म-शास्त्र की भाषा में "शौच" कहते हैं।

इस संशुद्धिकरण में मन की शुद्धि का महत्व सब

से अधिक है। मन आत्मा का अन्तःकरण है। कुछ आचार्यों ने मन का वर्णन और विश्लेषण मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चार शब्दों में किया है। अकेले मन से, शब्द से भी अन्य तीनों का ग्रहण सामान्यतया हो जाता है। जब मन का चित्रण एवं विचार चार नामों के द्वारा होता है, तब उसके लिये "अन्तःकरण चतुष्टय" शब्द का व्यवहार होता है।

एक कवि उपालम्भ की भाषा में चेताता है:—

मन तो मलीन वैसा ही मूर्ख रहा तेरा।
गंगा में रोज जाके नहाया तो क्या हुआ॥

दूसरा पूछता है:—

केसन कहा बिगारिया ? जो मुंडे सौ बार।
मन को क्यों ना मुंडिये ? जिसमें विषय विकार॥

तीसरा कहता है:—

मन मलीन तन सुन्दर कैसे।
विष-रस भरे कनक-घट जैसे॥

चौथा घोषित करता है:—

दो कौड़ी की कड़वी तुम्बड़िया,
सभी तीरथ कर आई रे।
गंगा नहाई, जमना नहाई,
तबहुं गई न कड़ाई रे॥

रोगों के प्रकोप और प्रसार से बचने के लिये स्वास्थ्य रक्षा के नियमों का पालन दृढ़ता पूर्वक करना चाहिये। ये स्वास्थ्य के नियम भी तो पवित्रता-सम्पादन के ही नियम हैं। झूठा न खाये। तमोगुणी, रजोगुणी, बासी और गला-सड़ा न खाये। मांस, मछली, अण्डा न खाये। यदि प्रयोग करना ही पड़े, तो तमोगुणी और रजोगुणी भोजनों का उपयोग कम से कम करे। शुद्ध जल-पान करे। शुद्ध वायु सेवन करे। सील और सड़ांद में न रहे। पवित्र घर और पवित्र वातावरण में रहे। अपशब्दों को न सुने, न बोले। अश्लील दृश्यों को न देखे, न दिखाये। अश्लील साहित्य को न पढ़े, न पढ़ाये। खाना-पीना भी शुद्ध हो। मानसिक भोजन भी शुद्ध हो। कपड़ा-लत्ता भी शुद्ध हो। शिव–संकल्पों की महिमा प्रकारान्तर से शौच की ही महिमा है।

यद्यपि शौच का अधिक विचार और व्यवहार व्यक्तिगत जीवन और आत्मिक-साधनों से ही सम्बन्धित है, तथापि नागरिक, सामाजिक, राजनैतिक और समूहगत जीवन-प्रसंगों में भी शौच के नियमों का पालन किया जा सकता है और अवश्य ही करना चाहिये। यदि एकमात्र हमारा घर शुद्ध है, और आस-पास के सभी घर गन्दे हैं, तो क्या हमें शौच-व्रत के सभी लाभ

प्राप्त हो सकते हैं ? नहीं, कभी नहीं।

इसी प्रकार यदि पड़ौसियों की गन्दी-भद्दी आवाजें कानों में आती हैं, तो हमारे मन को भी वे गन्दा और विक्षुब्ध बना ही देंगी। यदि हमारे समाज में अशिक्षा, कुशिक्षा, कुरीतियों और अन्ध-परम्पराओं का बोल बाला है तो हमें समाज की खराबियों का शिकार होना ही पड़ेगा। यदि राजकाजी पुरुष मैले मन, दूषित-भाव, दुष्ट-नीति और गलत अन्दाजों वाले होंगे, तो उनकी करतूतों के बुरे परिणाम प्रजाजनों को भोगने ही होंगे। अतः सहृदय और दृढ़ पुरुषों को समाज-संरक्षण तथा समाज-सुधार के कार्यक्रमों का आयोजन भी अवश्य ही करना चाहिये।

संशुद्धि के प्रसार का एक सरल प्रकार यह है कि विज्ञजन जनता में सुरुचि उत्पन्न करें। बड़े लोगों की बुरी आदतों को सुधारना कठिन होता है। इसलिये समाज-सुधार के कार्यों का आरम्भ सुनियोजित कार्यक्रम के अनुसार बाल-वर्गों से ही करना ठीक रहेगा। आज के बच्चे ही तो कल के प्रौढ़-नागरिक बनेंगे। नई पीढ़ी के सुधार से भावी नागरिकों का सुधार अपेक्षाकृत सरलता से हो सकेगा। पवित्रता के संवर्धन के साथ ही उसके संरक्षण पर भी विशेष ध्यान दिया जाये।

पवित्रता का संरक्षण, उसके संपादन और संवर्धन से भी अधिक कठिन कार्य है। कई दूषित क्रियायें और प्रतिक्रियायें ऐसी भी होती हैं, जो भारी-भारी प्रयत्नों द्वारा संचित पवित्रता को अनायास ही नष्ट कर देती हैं। सभी प्रकार के भ्रष्टाचारों से सदा ही बचना चाहिये।

भक्ति-वाद की तो सारी ही प्रक्रिया एकमात्र संशुद्धिवाद के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। पवित्रता के अभाव में भक्ति-भाव का ढोंग तो रचा जा सकता है, परन्तु आत्मिक उन्नति की उच्च भूमिकाओं में प्रवेश पाने के लिये तो सर्वप्रथम पवित्रता का सम्पादन होना ही आवश्यक है। पवित्रता वास्तव में पवित्रता, उच्चतर और सर्वाङ्गपूर्ण पवित्रता हो। तन पवित्र हो। मन पवित्र हो। स्थान पवित्र हो। वातावरण पवित्र हो। सम्पर्क पवित्र हों। वस्त्र पवित्र हों। पात्र पवित्र हों। आजीविका पवित्र हो। विचार पवित्र हों।

तभी तो भक्ति-वाद के सभी आचार्यों नें अपनी-अपनी प्रणालियों के आरम्भ में शुद्धीकरण के विधान रचे हैं। उन-उन संशोधन-विधानों के पालन में पूरी-पूरी ईमानदारी और सावधानता का होना आवश्यक है। यदि किसी के मन में कोई अपवित्र विचार भी आ

जायेगा, तो वह विचार उसकी सम्पूर्ण संशुद्धि को नष्ट कर देगा। उत्तम कामों में लोक-दिखावा जितना कम हो, उतना ही उत्तम है। पवित्रता के साधन भी पवित्र हों। अपवित्र साधनों से तो पवित्रता का सम्पादन न हो सकेगा। पवित्रता सम्पादन के कार्य में आत्म-प्रवंचना से भी बचना चाहिये।

मानव-जीवन के चरम-लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये आत्मिक उन्नति का होना सर्वप्रधान है। यह एक निर्विवाद सत्य है। परन्तु पवित्रता के अभाव में तो किसी आत्मिक उन्नति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आत्मिक उन्नति के लिये भी शरीर की बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही प्रकार की पवित्रताओं का सम्पादन परम आवश्यक है।

मन, जो आत्मा का एक अद्भुत और शक्तिशाली उपकरण है, वह एक भौतिक तत्व है। शुद्ध अन्न से मन में पवित्रता का संचार होता है। अशुद्ध अन्न के खाने से मन में अपवित्रता बढ़ती है। तभी तो कहा जाता है कि जैसा 'खाये अन्न, वैसा होवे मन।' कर्मवाद का प्रसिद्ध सिद्धान्त है:—जो कुछ मन से सोचता है, वही वाणी से बोलता है और वही कर्म से करता है। जो कुछ कर्म से करता है, वही फली-

भूत होता है। अतः विचारों को पवित्रता का महत्व बहुत अधिक है।

पवित्रताओं के परिगणन में तत्वज्ञानी ऋषियों ने आर्थिक पवित्रता की श्रेष्ठता का प्रतिपादन बहुत प्रभावपूर्ण शब्दों से किया है। अर्थ-शौच का सरल अर्थ धन, ऐश्वर्य, रुपये-पैसे को पवित्रता ही है। जीवन के लिये आवश्यक सभी पदार्थों की पवित्रता का विचार भी अर्थ-शौच के अन्तर्गत आ जाता है। जो लोग पापाचारों और अन्यायपूर्ण एवं पर-पीड़ोत्पादक--यथा मिलावट, रिश्वत आदि उपायों से अर्थ-संचय किया करते हैं, वे विचार करके देखें कि कुमार्ग को छोड़ कर सन्मार्ग को अपनाना उनके लिये कितना आवश्यक है। ईश्वर-चिन्तन और आत्म-निरीक्षण, ये दो पवित्रता-सम्पादन के अमोघ उपाय हैं। इनका अनुष्ठान सभी के लिये हितकर होता है।



सन्तोष

मानसिक विक्षोभ और अशान्ति के निवारण के लिये शास्त्रकारों ने जो उपाय बतलाया है, उसे "सन्तोष" कहते हैं। ईर्ष्या और द्वेष का निवारण भी सन्तोष से ही होता है। यह सन्तोष शब्द और इसका व्यापक भावार्थ किसी भी रूप में पुरुषार्थ का विरोधी, अथवा आलस्य का संवर्धक नहीं। प्रत्येक मनुष्य को उन्नति के लिये एक जैसे और भेदभाव एवं पक्षपात से शून्य अवसर प्राप्त हों, प्रत्येक मनुष्य अपनी पूरी शक्ति से काम करे, और फिर वह अपने पुरुषार्थ के प्रतिफल पर, अर्थात् अपनी कमाई पर सन्तोष करे।

ईर्ष्या-द्वेष करने वालों, किसी की उन्नति वा वृद्धि को देख कर जलने वा-कुढ़ने वालों को खोजने के लिये किसी को कहीं जाना न होगा। वे तो प्रत्येक व्यक्ति को अपने पास ही मंडराते, हुड़दंग मचाते और सज्जनों के विरुद्ध अकारण ही विषवमन करते तथा मिथ्यावाद फैलाते हुए मिल जायेंगे। ईर्ष्या-द्वेष

की प्रतिक्रिया स्वरूप विक्षोभ की उत्पत्ति भी होती है, और बदला लेने की नीच भावनायें भी जागने लगती हैं। ऐसा होने पर भी मनुष्य को आत्म-संयम से काम लेना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य को अपनी शक्ति का व्यय तो शुभ आयोजनों में ही करना चाहिये। भला या बुरा, जो कुछ भी सामने आये, उसे सहा और स्वीकारा जाये। आत्मरक्षा के लिये जागरूकता तो उत्तम है, परन्तु भयवशात् दूसरों के घात-प्रत्याघात में लिप्त होना ठीक नहीं।

यहां यह बात नहीं है कि मनुष्य प्रारम्भिक और छोटी-छोटी-सी सफलताओं पर ही बस कर दे। आज की सफलता पर आज सन्तोष करना चाहिये। कल अधिक पुरुषार्थ करके कोई नई, बड़ी सफलता भी प्राप्त कर ली जाये। ऐसा करना प्रत्येक मनुष्य का, एक ही जैसा जन्म-सिद्ध अधिकार है। यह अधिकार सन्तोष शब्द के मूल अभिप्राय का विरोधी नहीं है। प्रकार की दृष्टि से तो सन्तोष भी एक सफलता ही है। यह सफलता विकसित मन, परिपक्व विचार, संयमपूर्ण जोवन और सुरुचि की परिचायक।

आज तो सभी ओर असन्तोष का साम्राज्य है। व्यक्ति असन्तुष्ट हैं। जातियां असन्तुष्ट हैं सभी अपने-

अपने अधिकारों का शोर मचा मचा रहे हैं कोई पूछे कि क्या इन-इन ने अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन भली प्रकार से किया है ? यदि हाँ, तब तो इनकी माँग अवश्य ही विचारणीय है। और यदि इन्होंने कर्तव्यों का पालन भली प्रकार से नहीं किया है, तब तो इनका यह शोर, "चोर और चतुर" की याद दिलाता है। इनके इस व्यवहार की तो सम्पूर्ण संसार में निन्दा ही होगी। मनुष्य पहले पात्रता प्राप्त करे, फिर अधिकार माँगे। साधकों को यह भी समझ लेना चाहिये कि असन्तोष तो निराशा और क्रोध का ही एक सम्मिश्रण होता है। इसी प्रकार सन्तोष, आशा, धैर्य तथा स्निग्धता का एक मिश्रित-भाव है।

नंगे पांव वाले ने जब जूते वाले को देखा, तब उसके मन में ईर्ष्या और द्वेष की ज्वाला धधक उठी। वह असन्तुष्ट होकर भगवान को बुरा-भला कहने लगा। फिर उसने एक ऐसा मनुष्य देखा, जो बिना पाँव के था। वह बेचारा बड़ी कठिनाई से अपने शरीर को सड़क पर घसीटे लिये जा रहा था। उसे देखकर द्रष्टा का असन्तोष लुप्त हो गया। वह विधाता का बारम्बार धन्यवाद करने लगा कि उसने जूते न दिये तो न सही, पाँव तो उसने दे ही दिये।

प्रत्येक असन्तुष्ट व्यक्ति को चाहिए कि उन लोगों की तरफ देखे, जो अपेक्षाकृत रूप में पिछड़े हुए, वंचित वा अभाव-ग्रस्त हैं। ऐसा करके वे शीघ्र असन्तोष से मुक्त हो जायेंगे, और अपनी अन्तर्ज्वाला में जलने से बच जायेंगे। इसके साथ ही वे अपनी उस शक्ति को भी सुरक्षित रख सकेंगे, जो कि असन्तोष की अवस्था में व्यर्थ ही नष्ट होती रहती है।

अपरिग्रह का विचार पहले हो चुका है। यह सन्तोष व्रत भी अपरिग्रह का ही सैद्धांतिक पक्ष अथवा सूक्ष्म रूप है। अपरिग्रह में मनुष्य भौतिकवादों से ऊपर उठता है। सन्तोष के अभ्यास द्वारा मनुष्य अपने मनोविकारों को वश में करता और प्रलोभनों से बचता है। अपरिग्रह की साधना मनुष्य को भौतिकवाद से उत्पन्न होने वाले सम्पूर्ण कष्टों से बचाती है। सन्तोष की साधना मनोविकारों से उत्पन्न होने वाले कष्टों को दूर भगाती है। सन्तों ने तो सन्तोष का बखान श्रेष्ठ-धन के रूपमें किया है। यह ठीक भी है :—

गो-धन, गज-धन वाजि-धन और रत्न-धन खान।
जब आए सन्तोष धन, सब धन धूरि समान॥

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि सन्तोष रूपी संबल मानव-जाति को प्राप्त न हो जाता, तो उसकी बहुत

ही अधिक दुर्दशा होती। यह तो ईश्वर की परम कृपा है कि किसी उत्कट असन्तोष के उत्पन्न होने पर भी कुछ देर में, या शीघ्र ही सन्तोष का कोई न कोई कारण मनुष्य को मिल ही जाता है। जो लोग हानि और लाभ, सुख या दुःख, अनुकूल या प्रतिकूल सभी प्रकार की अवस्थाओं में एक समान शांत भाव से रहने का अभ्यास कर लेते हैं, और द्वंद्वातीत स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं, वे तो मानवता के भूषण हैं। ऐसी अवस्था मानव-जीवन की सर्वश्रेष्ठ अवस्था है।

कुछ नीति-निपुण लोग कहते हैं कि असन्तोष तो प्रगति का सहायक है। इस बात को हम समझ नहीं सके। हम तो असन्तोष को हीनता का प्रतीक, अशांति का जनक और मानवता का कलंक ही मानते हैं। जो लोग नाना प्रकार से असन्तोष को पैदा करते हैं, वे मानवता के शत्रु हैं, मित्र नहीं।

जो-जो लाभ त्यागवाद के अनुष्ठान के द्वारा प्राप्त होते हैं, वे सभी लाभ सन्तोष के भी हैं। इसमें विशेषता यह है कि सन्तोषी जन अधिक उदार, स्निग्ध तथा शिष्ट होते हैं। उनका मन भी अधिक शुद्ध, सबल, विकसित और शांत होता है। वे साधारण सांसारिकता से बहुत ऊंचे उठ चुके हैं। उनकी बौद्धिक

शक्ति और सहनशीलता भी अधिक होती है।

सन्तोषी जनों के पास खोने या लुटाने के लिए तो कुछ होता ही नहीं। हां, प्राप्त करने के लिए उनके सामने बहुत कुछ होता है। सन्तोषी जन अपने ही अंतरात्मा के प्रकाश तथा पथ-प्रदर्शन में उच्चतर भूमिकाओं में प्रवेश करते हैं, और आगे ही आगे बढ़ते, ऊपर ही ऊपर उठते चले जाते हैं।

प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि असम्भव या अनुचित कामनाओं को अपने मन में स्थान न दे। भाग्य के भरोसे निठल्ला भी कोई न बैठे। परमुखापेक्षी या दानोपजीवी बन कर कोई अपने जीवन को कलंकित न करे। कोई न तो पुरुषार्थ-हीन बने और न ही घोर स्वार्थी या संग्रहशील भारवाही। सन्तोष के मर्म और उसकी सीमाओं को हमें भली प्रकार समझ लेना चाहिए।



[८]

तप

तप क्या है ? सहिष्णुता तप है। क्षमा तप है। दया तप है। सन्तोष तप है। साधना तप है। प्रतीक्षा तप है। धैर्य तप है। सत्य तप है। पवित्रता तप है। इंद्रिय-निग्रह तप है। तप के नाम पर अनेकविध शरीर-पीड़न अथवा प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध आचरण की, जो प्रदर्शनात्मक पाखण्ड-लीलायें, जब-तब देखने में आती हैं, वे तप नहीं हैं। ऐसे शरीर-पीड़न और प्रदर्शनात्मक तपों के तापस भी प्रायः सन्दिग्ध प्रकार के ही होते हैं। सत्य के परिपालन और अनुशीलन में, जो-जो प्रयत्न मनुष्य को करने चाहियें और जो-जो कष्ट उसे सहन करने पड़ते हैं, उन सबका ग्रहण भी तप शब्द से किया जाता है। ब्रह्मचर्य-व्रत का अनुष्ठान, शिष्टता और आर्य-मर्यादाओं का पालन भी तप है इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण शुभ-कर्मों अर्थात् कर्म-योग मात्र का नाम तप है। तप जीवन को पवित्र बनाता है।

सहनशीलता की बात पर फिर विचार करें। जाड़े गर्मी को सहना, आँधी-तूफान को सहना, वर्षा के प्रकोप और भूख-प्यास, आधि-व्याधियों, रोग, वियोग, विषाद, विक्षोभ, अपमान तथा मानसिक उद्वेगों और विकारों को सहना बड़ी बात है। जब कोई कठोर शब्दों के व्यवहार से, या अन्य प्रकार से, किसी का किसी प्रकार अपमान करता है, तब अपमानित व्यक्ति के मन में क्रोध का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही होता है।

क्रोध को जीत लेना बड़ी बात है। प्रलोभनों को जीतना भी बड़ा काम है। क्रोध के विषय में तो यह नियम है कि क्रोध की छूत तुरन्त ही, बिजली से भी अधिक तेजी के साथ उस व्यक्ति को लग जाती है, जिस पर क्रोध किया जाता है। ऐसा होने पर दोनों ओर क्रोध का दावानल फट जाता है। क्रिया और प्रतिक्रिया, अथवा कारण और कार्य का नियम बहुत तेजी से काम करने लगता है। इधर की लाग से उधर, और उधर की छूत से इधर, अर्थात् दोनों ओर, क्रोध निरन्तर भड़कता ही चला जाता है। दोनों ओर से खूब वार होने लगते हैं। बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते हैं। तभी तो कहा है कि क्रोध में मनुष्य अन्धा हो जाता है, और मूर्ख भी। अतः यह क्रोध-विजय भी एक बड़ा तप है।

बहुत से यज्ञ-याग हैं। व्रत और अनुष्ठान हैं। आसन-प्राणायाम आदि यज्ञ की प्रक्रियायें हैं। अनेकों विध-व्यायाम हैं। ये सब भी तप हैं। मनुष्य स्वाद के वश में होकर कुछ न खाये। रसना-इद्रिय को जीता जाये। भोजन इसलिये है कि शरीर उसको माँग करता है। भोजन शरीर की शक्ति को बढ़ाता, स्थिर रखता और मानव-जीवन रूपी गाड़ी को चलाने के लिये ईंधन का काम करता है। रसना के वश में होकर खट्टे-मीठे चरपरे भोजन जुटाने और खाने का नाम भोजन नहीं। वह तो असंयम अथवा विलास है। आँखों के द्वारा वे रूप देखे जायें, जो कि हानिकारक अथवा वर्जित नहीं हैं। नासिका का भी सदुपयोग हो, और श्रोत्र का भी। वाणी, त्वचा, हाथ, पाँव आदि सभी इन्द्रियों का सदुपयोग किया जाये। सब प्रकार के असंमय से प्रयत्न पूर्वक बचा जाये। ये सब तप लाभदायक आवश्यक हैं।

योग-साधना के कुछ जटिल प्रयोग हैं। वे भी तप कहलाते हैं। उनका अनुष्ठान किसी श्रेष्ठ जानकार की सहायता से करना ही लाभ देता है। केवल मात्र किताबी-ज्ञान के आधार पर उन जटिल प्रयोगों को न करना चाहिये, क्योंकि श्रेष्ठ पथ-प्रदर्शक के अभाव में हानि की सम्भावना ही अधिक होती है।

तप का मुख्य कार्य मन और शरीर को सबल बनाकर, सन्मार्ग पर चालना है। कोई भोले-भाई शरीर को दुर्बल करने, इन्द्रियों को नष्ट करने और सम्पूर्ण शक्ति, साधनों एवं समय को व्यर्थ बनाने वाले प्रयोग भी तप के नाम पर करते हैं। उनका अनुकरण कोई भूलकर भी न करे। तप के नाम पर वे अपना और दूसरों का अकल्याण ही किया करते हैं। प्रभु उन पर कृपा करें। वे उलझे हुए लोग हैं।

आइये, अब भोजन का विचार भी तप के प्रसंग में कर लें। क्या खायें ? कितना ? और कब ? जो सात्विक और हितकारी है, वही हमें खाना चाहिए। जब भूख लगे तब खाना चाहिए। जितनी भूख हो, उससे अधिक न खायें। गरीब तब खायें, जब मिले। हानिकारक भोजनों से तो सभी को प्रयत्न-पूर्वक बचना चाहिये। यदि अभाव अथवा यात्रा आदि की कोई असुविधा न हो, तो दिन में एक या दो बार नियत समय पर ही भोजन करना चाहिये। नशों का प्रयोग सर्वथा ही न किया जाये। दवाइयों का प्रयोग भी कम से कम ही करना उचित है। यदि दवाइयों का प्रयोग सर्वथा ही न किया जाये, दवाइयों के प्रयोग के कभी अवसर ही न आयें, अथवा कम से कम अवसर आयें,

तो उत्तम है। यदि कभी कोई रोगी हो, तो उसका उपचार सुयोग्य चिकित्सक से करायें। सुनी-सुनाई दवाइयों का खाना-पिलाना और सन्दिग्ध प्रकार के लोगों की टोटके-बाजियों में फंसना, अनुचित है।

विशेष प्रकार की सफलताओं को प्राप्त करने के लिए विशेष प्रकार की तैयारियां भी नियमपूर्वक की जाती हैं। दृढ़तापूर्वक अनुशासन में रहने और उत्तम नियमों का पालन करने को भी तप कहते हैं। सफलता भौतिक हो, या अभौतिक, लौकिक हो, या पारलौकिक, उसकी प्राप्ति तो तप के द्वारा ही होगी। यह पुरुषार्थ भी तो तप है।

बालक विद्या-प्राप्ति के लिए तप करते हैं। गृहस्थजन ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण, और देव-ऋण से निवृत्ति के लिए तप करते हैं। सैनिक राष्ट्र की रक्षा के लिये कष्ट सहन रूपी तप करते हैं। समाज और राष्ट्र देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार विशेष लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए आयोजना-बद्ध सामूहिक पुरुषार्थ रूपी तप करते हैं। तप एक साधन भी है और एक असाधारण सिद्धि भी। जीवन व्यक्ति का हो, या समाज का, उसके निर्माण में तप का महत्त्व बहुत अधिक है। तप एक ऐसा कार्य है, जो धर्मपूर्वक और पूर्ण जाग-

रूकता के साथ सम्पन्न होता है। कोई एक छोटी-सी भूल-चूक या मन को कोई भी साधारण-सी प्रतीत होने वाली खराबी, वर्षों के तप और उसके चिरसंचित प्रभाव को एक क्षणमात्र में ही नष्ट कर सकती है। बनना तो कठिन होता है। टूटते क्या देर लगती है ? किसी परमहंस के पतन का शब्द-चित्र एक कवि के शब्द में इस प्रकार है :—

मनवा तो हंसा भया, उड़कर चला आकाश।
ऊपर से ही गिर पड़ा, यह माया के पास॥

सच्चा तपस्वी वही है, जिसके मन, वचन और कर्म में एकरूपता हो इसका भाव यह है कि जो कुछ मन में हो, उसी के अनुसार बोले और उसी के अनुसार आचरण भी करे। तप विशेष रूप से आचरण का विषय है। दिखावे की तपस्या प्रथम तो तपस्या ही नहीं है, फिर दिखावे की तपस्या के द्वारा आध्यात्मिक जीवन की उच्चतर भूमियों की प्राप्ति तो हो भी नहीं सकती। दिखावे की तपस्या से भले ही किसी को भक्तजी की पदवी मिल जाये, पर वह बगुला-भक्त ही होगा।

●

स्वाध्याय

स्वाध्याय शब्द के दो प्रसिद्ध अर्थ हैं, एक आत्म-चिन्तन और दूसरा आर्ष-साहित्य का पठन-पाठन। यहां यह ध्यान रहे कि यह आर्ष-साहित्य का पठन-पाठन और श्रवण-श्रावण भी वास्तव में आत्म-चिन्तन की सहायता और योग्यता-प्राप्ति के लिये ही आवश्यक है। इन दिनों यह स्वाध्याय शब्द केवल मात्र ग्रन्थ पठन-पाठन के लिये ही रूढ़ सा हो गया है। साधकों और विचारकों को तो स्वाध्याय शब्द के व्यापक अर्थों का ही ग्रहण करना चाहिये। आत्म-चिन्तन विशेष रूप से किया जाये

मैं कौन हूँ? यह दृश्यमान् जगत् क्या है? इससे मेरा क्या सम्बन्ध है? इसकी रचना किसने? किस प्रकार? क्यों? किसके लिये? की है। अन्य प्राणियों से मेरा क्या सम्बन्ध है? मेरा अपने प्रति और दूसरों के प्रति क्या कर्तव्य है? इस सृष्टि का स्रष्टा कौन है? और उस स्रष्टा से मेरा क्या सम्बन्ध है? ये

और ऐसे ही और भी कई प्रश्न हैं। इन प्रश्नों के विचार को ही तो आत्म-चिन्तन कहते हैं। कोई-कोई योग्य विद्वान् प्रकृति-पश्यक बन कर, इन प्रश्नों पर विचार करते हैं, और तदनुसार अपने विचार एवं समाधान प्रस्तुत करते हैं। प्रकृति-दर्शन भी स्वाध्याय ही है। भौतिक प्रयोगशालाओं में होने वाले अनेकविध अनुसन्धानों को भी हम स्वाध्याय कह सकते हैं। मैं, तू और वह, इन तीन सत् पदार्थों के समुच्चय को अर्थात् इनके स्वरूप और पारस्परिक सम्बन्ध को ही तो स्वाध्याय-प्रक्रिया के द्वारा जाना जाता है।

कुछ चतुर लोग कहते हैं कि आत्म-चिन्तन, आत्म-बोध या मैं की मीमांसा से लाभ ही क्या है? केवल-मात्र कर्तव्य बोध ही पर्याप्त है। वे विचार तो करें कि क्या कर्तव्य-बोध कोई सरल कार्य है? और क्या आत्म-बोध के बिना कर्त्तव्य-बोध सम्भव भी है? क्या कर्तव्य-बोध भी एक जटिल समस्या नहीं है? आत्म-बोध और कर्तव्य-बोध दोनों ही दृष्टियों से गहरा-चिन्तन, विचार-मन्थन और आर्ष-ग्रन्थों का पठन-पाठन एवं श्रवण-श्रावण अत्यन्त आवश्यक है। ऋषियों के ग्रन्थों का ग्रहण यहाँ इसलिए किया गया है कि वे ग्रंथ पक्षपात और भ्रांत-वादों से रहित होते हैं। साधारण मनुष्यों की पुस्तकों का ग्रहण इस स्वाध्याय

कर्म में नहीं किया जाता। क्योंकि साधारण मनुष्यों की पुस्तकों में तो पक्षपात और भूल-चूक की संभावनायें बहुत अधिक होती हैं।

आर्ष-ग्रन्थों का स्वाध्याय इसलिए भी करें कि ऋषिगण परोपकारी, स्वार्थ-त्यागी, तत्वज्ञानी और क्रांतदर्शी होते हैं। साधारण मनुष्यों द्वारा विरचित ग्रन्थों में तो अनेक प्रकार की स्वार्थ-लीलायें और कुटिलतायें भरी ही रहती हैं। इसके साथ ही मनुष्य-कृत ग्रंथों के पठन-पाठन आदि में अधिक समय और परिश्रम लगा कर भी अति अल्प बोध होता है। आर्ष ग्रंथों के पठन-पाठन आदि में समय और परिश्रम तो कम होता है और बोध अधिक मिलता है। आर्ष-साहित्य के अनुशीलन से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह यथार्थ और विश्वस्त होता है। मनुष्य-कृत ग्रन्थों से प्राप्त होने वाला बोध तो असत्य-मिश्रित और संदिग्ध भी होता है।

यह स्वाध्याय ही ज्ञानमार्ग की कुंजी है। साधकों और जिज्ञासुओं की सम्पूर्ण शंकाओं का पूरा-पूरा समाधान तो स्वाध्याय के अनुष्ठान और ईश्वर की कृपा से ही प्राप्त होता है। मौखिक वाग्जाल, कठोर-भाषण और बड़बोलेपन के द्वारा किसी का मुँह तो बंद किया जा सकता है, परन्तु सच्चे समाधान का

कर्म तो यह स्वाध्याय ही है। स्वाध्याय का अनुष्ठान प्रतिदिन नियमपूर्वक करना चाहिये। इस व्रत के प्रति-पालन में प्राचीन आचार्यों ने छुट्टी मनाने का निषेध कर रखा है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे शरीर को प्रतिदिन भोजन मिलना चाहिए, वैसे ही मन और आत्मा को भी प्रतिदिन सद्विचार रूपी उत्तम भोजन अवश्य ही मिलना चाहिए।

अब आर्ष-ग्रन्थों के निर्वाचन, पठन-पाठन, श्रवण-श्रावण आदि की कठिनाइयों का विचार कीजिए। स्वार्थी लोगों ने बहुत-से ग्रन्थ ऋषियों के नामों से बना डाले हैं। इन नए ग्रंथों का प्रचार उन्होंने प्राचीन ग्रंथों के समान हो कर रखा है। कुछ नकली या काल्पनिक ऋषि भी बना दिए गये हैं। धूर्तों ने प्राचीन आर्ष-ग्रंथों में मिलावट भी बहुत अधिक कर रखी है। बहुत-सी कथा-कहानियों से युक्त और दोष-भरी बातों से परिपूर्ण पुस्तकों को धर्म-ग्रंथ किंवा ईश्वरीय-ज्ञान के नाम से प्रचारित किया जा रहा है। ये बातें तो कुछ पुराने मध्य-युग की हैं। वर्तमान युग तो छापेखाने का युग है। आजकल तो युद्ध भी नाना प्रकार के प्रकाशनों और समाचार-पत्रों के आधार पर लड़े जाते हैं। जन-मत को प्रभावित करने, भड़काने, बहकाने या फुसलाने के लिये बड़ी संख्या में कई-कई रंगों के

चमकदार कागजी-घोड़े, आज-कल लाखों-करोड़ों की संख्या में दौड़ाये जाते हैं। इसके साथ मशीन-युग के प्रभाव से आज-कल तो पुस्तक-व्यवसाय भी अन्य व्यवसायों के समान ही धन कमाने का एक व्यवसाय बन गया है। आये दिन सार रहित और हानिकारक साहित्य का प्रकाशन बहुत बड़ी संख्या में हो रहा है। संसार के सभी भागों में, एवं संसार की सभी भाषाओं में दूषित ग्रंथों की सुनियोजित और चमकदार परम्पराएं बड़े वेग से प्रचलित हैं। अतः उत्तम, हितकर, सारगर्भित, आर्ष-साहित्य का निर्वाचन आज-कल एक वास्तविक कठिनाई बन गया है। आर्ष-साहित्य को नित्यप्रति वर्धमान किताबों के ढेर में से खोज निकालना, आज आसान नहीं है।

जो लोग अशिक्षा, कुशिक्षा और अनुभवहीनता के कारण उत्तम ग्रंथों के चुनने में कठिनाई का अनुभव करें, उन्हें किसी परोपकारी, समदर्शी विद्वान् की सहायता से उत्तम पुस्तकों को प्राप्त करना चाहिये। जिन पुस्तकों में सृष्टिक्रम के प्रतिकूल, असम्भव और प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव तथा अभाव, इन आठ प्रमाणों से प्रतिकूल बातों का उल्लेख है, वे दूषित हैं। इसीलिए वे त्याज्य भी

हैं। जिन पुस्तकों में काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ और अहंकार, इन छः मनोविकारों को भड़काने वाली बातें हों, वे भी त्याज्य हैं। जिन पुस्तकों में सर्वमान्य महापुरुषों पर अकारण ही मिथ्या दोषारोपित किये गये हों, वे भी त्याज्य हैं। जिनके पढ़ने में लाभ कम और परिश्रम अधिक हो, तथा समय भी अधिक लगे, वे भी त्याज्य हैं। जिन पुस्तकों में मिलावट पाई जाये, अधिकारी विद्वान् उनका समुचित संशोधन करें। साधारण मनुष्यों के लिए तो मिलावट वाली पुस्तकें भी विषैले अन्न के समान त्याज्य ही हैं।

अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रं,
स्वल्पं तथायुर्बहवश्च विघ्नाः।
सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गुः,
हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बु मध्यात् ॥

शब्द-शास्त्र का कोई पार नहीं है। आयु थोड़ी है और जीवन-यात्रा में विघ्न भी आते रहते हैं। इसलिये सार को ग्रहण करके असार को छोड़ दीजिये। जैसे कि हंस जल-मिश्रित दूध में से दूध को ग्रहण करते और जल को छोड़ देते हैं।

यत्न और मनोयोग-पूर्वक आर्ष-रचनाओं का पठन-पाठन श्रवण-श्रावण, मनन, निदिध्यासन तथा साक्षात्कार कीजिये। ऋषि भी सच्चे ऋषि हों। किसी नाम-मात्र

के तथा-कथित ऋषि के चक्कर में कोई न फंसे। प्राचीन ग्रन्थों के संशोधित और प्रक्षेप-रहित संस्करणों का स्वागत मनुष्यमात्र का आवश्यक कर्त्तव्य है। विशेष योग्यता प्राप्त विद्वानों को प्राचीन ग्रन्थों का संशोधन एवं संस्कार करना-करना चाहिये।

जब स्वाध्याय कर्म का आरम्भ होता है, तब गम्भीर विषय समझ में कम आते हैं। परन्तु जब नियमपूर्वक स्वाध्याय किया जाता है, तब कठिन विषय भी समझ में आने लगते हैं और उनकी रोचकता भी बढ़ती ही चली जाती है। इसी प्रकार शब्द-शास्त्र का अधिक ज्ञान होने और अधिक मात्रा में नाना प्रकार की विद्याओं की प्राप्ति होने पर स्वाध्याय कर्म में मन भी खूब लगने लगता है। और स्वाध्याय का आनन्द भी खूब प्राप्त होता है। शब्द-ब्रह्म की उपासना हो यह स्वाध्याय है। मन की गांठों को खोलने, नानाविध संशयों का मूलोच्छेदन करने, मानव-जीवन यात्रा के दुर्गम मार्ग को आलोकित करने, और साहित्य सागर की नाना-अनुविधाओं के परिपक्व साहित्यिक रसों की प्राप्ति करने-कराने में यह स्वाध्याय-व्रत सर्वश्रेष्ठ साधन है।

पुस्तकों को संभाल कर रखना और बहुमूल्य ग्रंथों के संरक्षण के विशेष उपाय करना, अत्यंत वांछनीय

है। परन्तु मूर्ति-पूजावत् पुस्तक-पूजा की रूढ़ियों में उलझना ठीक नहीं। शास्त्रों को नियमपूर्वक पढ़ना, पढ़कर विचार करना और शास्त्रों की शिक्षाओं को विचारपूर्वक जीवन में धारण करना, यही सच्ची शास्त्र-पूजा है। शास्त्रों के नाम पर झगड़े-बखेड़े खड़े करना, अथवा भेदभाव फैलाना उचित नहीं। सत्य की शक्तियाँ अमोघ होती हैं। स्वाध्याय-व्रती जनों के हृदय में सत्यशीलता सहज ही में अपना घर बना लेती है। वे एक दिन अनायास ही सम्पूर्ण तत्व-दर्शन की श्रेष्ठ सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं।

प्रतिदिन स्वाध्याय करना और स्वाध्याय-व्रत के अनुष्ठान द्वारा अपनी-अपनी जानकारी को बढ़ाना तथा बौद्धिक-क्षमताओं को भली प्रकार विकसित करना बच्चे, बूढ़े, जवान, स्त्री, पुरुष, देशी या विदेशी सभी का एक समान ही आवश्यक कर्त्तव्य है। जो लोग इस शुभ-कर्म के महत्व से अनभिज्ञ हैं, अथवा जो नियमपूर्वक स्वाध्याय नहीं करते, वे अपनी भूल को समझें, और स्वाध्याय-व्रत का अनुष्ठान करके सभी प्रकार के भय, भ्रम, भेद एवं विनाशकारी मिथ्यावादों से छूट जावें।

ईश्वर-प्रणिधान

ईश्वर है। ईश्वर इस अखिल विश्व का उत्पादक, पालक, पोषक और संहारक है। ईश्वर सच्चिदानंद-स्वरूप है। यह संसार और इसके नियम, ईश्वर-सिद्धि में प्रमाण हैं। क्योंकि यह सृष्टि एक 'कार्य' है और प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कर्त्ता भी अवश्य ही होता है। कर्त्ता के बिना तो कोई भी कार्य होता ही नहीं है। अतः जो इस सृष्टि का कर्त्ता है, वही ईश्वर शब्द से अभिप्रेत है। ईश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव अनन्त हैं। अतः उसके नाम भी अनंत हैं। एक आर्ष-वाक्य है :—

'ईश्वर सच्चिदानंदस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनंत, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र सृष्टि-कर्त्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।'

ईश्वर हमारे चर्म-चक्षुओं का विषय नहीं है।

इसलिए हमें दिखाई नहीं देता। और, क्योंकि सर्वव्यापक होने के कारण वह हमारी आंखों के अत्यंत समीप है, बाहर-भीतर ओत-प्रोत है, इसलिये भी वह आंखों से दिखाई नहीं देता।

कोई पूछे कि ईश्वर ने यह सृष्टि क्यों बनाई ? उत्तर है कि सृष्टि की रचना करना ईश्वर का स्वभाव है। ईश्वर ने जीवात्माओं के लिये प्रकृति से, इस सृष्टि की रचना की है। स्वरूप की दृष्टि से ईश्वर विभु अर्थात् सर्वव्यापक हैं। इसी प्रकार जीवात्मा अणु है। अर्थात् जीवात्मा बहुत ही छोटा, छोटे से भी छोटा, और एक देशी है। प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् जीवात्माओं का निवास है। प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा, इन तीनों की ही स्वतन्त्र सत्ता है। कोई ऐसा समय न था, जब ये तीनों न थे। कोई ऐसा समय भी न होगा, जबकि ये तीनों न होंगे। जो अनादि होता है, वह अनंत-काल तक रहने वाला भी होता है। प्रकृति केवल सत् है। जीवात्मा सत्+चित्=सच्चित् है। और परमात्मा सत्+चित्+आनंद=सच्चिदानंद है। इस सृष्टि की रचना अभाव से नहीं, अपितु भाव से ही हुई है। भाव का अभाव कभी भी नहीं होता। किसी भाव पदार्थ का स्वरूप-परिवर्तन तो सम्भव है, परंतु अत्यंताभाव सम्भव नहीं है।

क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् है, इसलिये वह जन्म-मरण के चक्कर में भी कभी नहीं आता। ऐसा होना सम्भव ही नहीं है। ईश्वर को मनुष्यवत् जन्म-ग्रहण करने की कोई आवश्यकता भी नहीं है। जीव तो पुनर्जन्म-वाद की ईश्वरीय-व्यवस्था के अनुसार अपने पूर्व-जन्म-कृत कर्मों के फल-भोग के लिये जन्म ग्रहण करता है। ईश्वर तो शरीर धारण किये बिना ही अपने सब काम करने में समर्थ है। दूतों, फरिश्तों, सहायकों और प्रतिनिधियों की भी उसे कोई जरूरत नहीं है। अवतारों की कहानियां असत्य कल्पनायें हैं।

ईश्वर की कोई मूर्ति नहीं है। कल्पना के आधार पर ईश्वर की मूर्ति बनाना भी अनुचित है। क्योंकि ऐसा करने से संसार में मिथ्यावाद का प्रचार होता है। और अनीश्वरवाद, अनेक-ईश्वरवाद आदि अनेक-विध दोष फैलते हैं। ईश्वर के स्थान पर उसकी मूर्तियाँ, बनाने और पूजने का परिणाम भी बहुत अधिक घातक होता है। इतिहास में इस विषय के सैकड़ों प्रमाण भरे पड़े हैं। मूर्ति-पूजक लोग पुरुषार्थ और कायर बन जाते हैं। मूर्ति पूजा के सभी प्रकार, नाना प्रकार की ठग-विद्याओं के ही विविध रूप हैं।

ईश्वर के प्रति परम-प्रेम को भक्ति कहते हैं। जब

भक्त अभ्यास के द्वारा अपने अन्तरात्मा को ईश्वर-भक्ति के रंग में रंग लेता है, और संसार के विषय-भोगों को छोड़कर ईश्वर की ओर बढ़ता, अर्थात् निरंतर ईश्वर के ध्यान में ही मग्न रहता है, और ईश्वर की प्रार्थना द्वारा नम्रता को धारण करता है, ईश्वर स्तुति द्वारा ईश्वर की प्रीति अर्थात् उसके नामों और गुणों को अपने जीवन में धारण करता है, और ईश्वर को निज अंग-संग मान कर चलता है, अर्थात् ईश्वरोपासना करता है, तब वह सब देशों, सब कालों और सब परिस्थितियों में एकमात्र ईश्वर को ही अपना रक्षक और जीवन-सर्वस्व मान कर अपना निर्वाह करता है। तब वह आत्म-कल्याण के मार्ग पर चल रहा होता है। इस कल्याण-यात्रा में साधकों को यमों और नियमों के परिपक्व अभ्यास से सर्वाधिक सहायता प्राप्त होती है।

ईश्वर-भक्ति का यह अर्थ नहीं है कि भक्त अन्य पुरुषों का निरादर करे, या किसी से घृणा करे। जो किसी से घृणा करे, वह कैसा ईश्वरवादी ? वह तो पापी और अनीश्वरवादी है। ऐसे लोगों की करतूतों का परिणाम संसार के लिए, और स्वयं उन पापियों के लिए भी, अत्यंत अकल्याणकारी होता है। कठिनाई यह है कि ये लोग मुँह से तो ईश्वर-ईश्वर बोलते रहते हैं, और इसके साथ ही दूसरों से घृणा, पराई हानि

और मिथ्याचरण आदि दुष्कर्म भी करते रहते हैं। कुछ लोग ऐसे बगुला-भक्तों को देखकर ही नास्तिक बन जाते हैं।

ईश्वर-भक्ति का अनुष्ठान करने के लिए किसी को कहीं दूर जंगलों में जाकर रहना आवश्यक नहीं है। न ही कपड़े रंगने की कोई जरूरत है। यह शुभ अनुष्ठान तो साधारण घरों और ग्रामों में भी उत्तमता से हो सकता है।

अगर तेरे दिल को है यकसूई हासिल,
तो बाजार में भी तू खिलवत नशीं है।
अगर दिल गिरफ्तार है मखमसों में,
तो जंगल भी बाजार से कम नहीं है।

भक्त लोग यथारुचि, यथामति ईश्वरवाद का विचार, व्यवहार और ईश्वर के नामों का जप आदि करने में पूर्ण स्वतंत्र हैं। कुछ साधक ओंकारोपासना पर बल देते हैं। ओंकारोपासना से निश्चिन्तता और निर्भयता का सम्पादन होता है। यदि रुद्र नाम से ईश्वर की उपासना की जाये, तो प्रभु की न्याय-व्यवस्था में प्रीति और जीवन-संघर्ष में सहनशीलता तथा सफलता की सिद्धि प्राप्त होती है। यह ईश्वर-भक्ति कोई दूनियादारों की खुशामद जैसा काम नहीं है। न ही यह कोई दिखावटी बात है। पवित्र हृदय, एकाग्र मन

और पूर्ण लग्न से ही भक्तिवाद के पूरे लाभ प्राप्त होते हैं।

ईश्वर को स्तुति से भक्त के हृदय में ईश्वर-प्रेम का संचार होता है। यह सिद्धान्त ईश्वर की प्रार्थना से भक्त को आत्मिक-बल की प्राप्ति होती है। उपासना की अवस्था में भक्त निरन्तर ही आस्तिकता के लाभों से युक्त और आनन्द में मग्न रहता है, और वह सफलता-पूर्वक ईश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव को अपने जीवन में धारण किया करता है।

ईश्वर की प्राप्ति किंवा ईश्वर-बोध की प्राप्ति का साधन निर्मल बुद्धि ही है। मनुष्य को अपना मन प्राकृतिक-जगत् में तथा लौकिक रिश्ते-नातों में नहीं फंसाना चाहिये। जड़ोपासना के परिणामस्वरूप मनुष्य की बुद्धि में तथा जीवन में भी जड़ता का समावेश हो जाता है। किसी मरणधर्मा प्राणी, यथा मनुष्य आदि की पूजा का विचार भी सदोष है। कोई भी मनुष्य, चाहे वह पूर्णज्ञानी और पूर्ण सदाचारी ही क्यों न हो, सर्वथा निर्दोष नहीं होता। उसमें अल्पज्ञता आदि दोष तो होते ही हैं। जो जन मनुष्य पूजा, कब्र-पूजा आदि व्यवहारों में फंसते हैं, वे उन-उन मनुष्यों के दुर्गुणों को भी सद्गुण मानकर ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार

अनायास ही वे उनके दोषों में लिप्त हो जाते हैं। अतः सभी ईश्वर भक्त सज्जनों को उचित है कि वे सब प्रकार की मनुष्य-पूजाओं से बचें।

पैगम्बर-वाद, गुरुडम, अवतार वाद और कब्र-पूजा ये सब मनुष्य पूजा के ही विभिन्न रूप हैं। मानव-जीवन का चरम लक्ष्य तो मोक्ष-प्राप्ति अर्थात् सभी प्रकार के क्लेशों से छुटकारा प्राप्त करना ही है। अतः एकमात्र निराकार, सर्वव्यापक, सर्वरक्षक, न्यायकारी और सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा की उपासना ही मनुष्यमात्र का सर्वोपरि कर्त्तव्य है। ईश्वर-बोध ही मानव-जीवन की सर्वप्रधान सिद्धि है। इस सिद्धि के साधन को ही शास्त्र की भाषा में ईश्वर-प्रणिधान कहते हैं। ईश्वर की सत्ता पर अटल विश्वास और उसके प्रति आत्म-समर्पण, यह ईश्वर-प्रणिधान का भावार्थ है।



यम-नियमों का अनुष्ठान

अपने दीर्घ-काल-व्यापी प्रचारक-जीवन में लेखक ने पातंजल-योग-विधान के विषय में बहुत कुछ पढ़ा-सुना है। योग-दर्शन के कतिपय अङ्गों के विषय में विविध प्रसंगों में लम्बे-लम्बे भाषण भी दिये हैं। अब यह "यम-नियम-लेखमाला" जिज्ञासु-जनों के लाभ के लिये लिख कर प्रस्तुत की गई है। यह लेख यम-नियमों के महत्व और अनुष्ठान के विषय में उपसंहार-स्वरूप है।

यमों और नियमों-जैसे भाव तथा विचार संसार की विभिन्न धर्म-पुस्तकों में भी पाये जाते हैं। परन्तु इनका एक ही स्थान पर जैसा सुसम्बद्ध उल्लेख पातंजल-योग दर्शन में है, वैसा संसार के और किसी भी ग्रंथ में नहीं है। धर्म शब्द का जो सारांश है, वह यमों और नियमों में ही पूर्णतया समाविष्ट है। ये धर्म के प्राणभूत और सम्पूर्ण संसार के लिए अनुष्ठान करने योग्य सार्वभोम महाव्रत हैं। विभिन्न मत-मतान्तरों में कर्म-कांड के रूप में जो रूढ़ि-वाद पाया जाता है, वह

तो सबका अपना-अपना और भेद-प्रभेद पूर्ण है, परंतु सभी मतों में, जो एक समान और समन्वयकारी उच्च-भाव पाये जाते हैं, वे सब यमों और नियमों के अन्तर्गत ही हैं। शाब्दिक रूप में यम का अर्थ है आत्म-संयम। नियम का भावार्थ भी यही है। तथापि शास्त्रीय परिभाषा में "यम" से आंतरिक जीवन और "नियम" से बाह्य-जीवन का ग्रहण होता है। नियामक होने से ईश्वर, प्राण, आचार्य और राजा को भी "यम" कहते हैं।

चरित्र-शुद्धि के लिये, मानसिक विकास के लिये, एकाग्रता-सम्पादन के लिये, यशस्वी दीर्घ-जीवन की प्राप्ति के लिये, सुख, शान्ति, और आनन्द-लाभ के लिये, इन यमों और नियमों से बढ़कर और कोई दूसरा विधान अब तक संसार में बना ही नहीं है। संसार के विभिन्न भागों में समय-समय पर जो धर्म-प्रचारक और महामानव प्रकाश में आते रहे हैं, वे यमों और नियमों के ही प्रचारक थे। यही उनकी महानता और सफलता का रहस्य है। इस विषय में शब्द-भेद तो सम्भव है, परन्तु अर्थ-भेद नहीं।

यम-नियमों की जो व्याख्या इस पुस्तक में लिखी है, उसका और भी विस्तार हो सकता था, परन्तु

विस्तार-भय से नहीं किया गया। यम-नियमों के अनेक सुन्दर व्याख्यान पहिले भी बहुत से सुयोग्य लेखकों ने लिखे हैं, वे भी पठनीय एवं लाभप्रद हैं। अध्यात्म-वादी वक्ताओं और लेखकों को भी अध्यात्म-विचार का कुछ लाभ तो मिलता ही है।

महर्षि मनु ने अध्यात्म-पथ के पथिकों को दो चेतावनियां दी हैं :—

यमान् सेवेत सततं, न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो, नियमान् केवलान् भजन्॥

(मनु० अ० ४ श्लो० २०४)

बुद्धिमान् पुरुष को उचित है कि नियमों के साथ ही यमों का भी अनुष्ठान करे। जो केवल नियमों का ही पालन करता है, वह यमों का पालन न करने के कारण पतित हो जाता है।

यहाँ यमों की श्रेष्ठता दिखाई है। दूसरी चेतावनी यह है :—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च, नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥

(मनु० अ० २, श्लो० ९७)

वेदों, त्यागों, यज्ञों, नियमों और तपस्याओं के द्वारा जो सिद्धि प्राप्त होती है, वह दुष्ट-विचार वाले मनुष्य को कभी भी प्राप्त नहीं होती।

यहाँ शिव-संकल्पों का महत्व दर्शाया है। मनुष्य को शुभ कर्मों का विचार और अनुष्ठान शुद्ध हृदय से विधिपूर्वक करना चाहिये। तभी यथेष्ठ लाभ होगा। ढोंग, दम्भ और दिखावे का फल तो उल्टा ही होता है।

महर्षि मनु ने धर्म के दस लक्षण लिखे हैं, वे ये हैं:-

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध। इनमें से अस्तेय, शौच और सत्य का ग्रहण यम नियमों में है। दम और इंद्रिय-निग्रह का विचार तप, ब्रह्मचर्य और शौच के अन्तर्गत करना चाहिये। धी अर्थात् बुद्धि और विद्या का विचार स्वाध्याय के साथ हो जाये। विचार करके इससे अधिक उत्तम संगति भी बैठाई जा सकेगी। पाठक अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा का उपयोग करें। कथन का सार यह है कि धर्म के दस लक्षणों में जो उपदेश है, वही यम-नियमों में भी है। इन दोनों उपदेशों में तात्विक-भेद तो सर्वथा ही नहीं है, अभेद है। हां, यमों और नियमों के रूप में यह उपदेश दार्शनिकता पूर्ण और अधिक स्पष्ट है।

अनुष्ठान-विधि

जिस दिन यमों और नियमों के अनुष्ठान का व्रत ग्रहण करने का विचार हो, उस दिन साधक या साधिका

प्रात:काल ब्राह्ममुहूर्त में शैया-त्याग करके, शौच और दातुन आदि से निवृत्त होकर, नियमित व्यायाम करें। फिर स्नान करके शुद्ध वस्त्र धारण करें। प्रात:काल की संध्या एवं यज्ञ के उपरांत व्रत ग्रहण करें।

आरम्भ में साधक वा साधिका केवल मात्र एक ही प्रथम यम अर्थात् "अहिंसा-व्रत" को धारण करें। व्रत-धारण के लिए प्रभु को सम्बोधित करके साधक वा साधिका इस प्रकार बोलें :—

"हे व्रतपते परमात्मन् ! मैं आज से अपने जीवन में अहिंसा-व्रत को धारण करता हूँ / करती हूँ। आपकी कृपा से मेरा व्रत सफल हो। हे प्रभो ! इस व्रत को मन, वचन और कर्म से पालन करने के लिए मुझे आवश्यक बल, साधन और दृढ़ता प्रदान करो।

इस व्रत ग्रहण-विधि के पश्चात् सभी साधक-साधिकायें पांच-सात कागजों पर "अहिंसा" यह शब्द सुन्दर रूप में लिख लें और अपने मकान, दुकान, कार्यालय, गृह-द्वार आदि में, ऐसे स्थानों में, जहां से वे दिन में कई बार दृष्टि में आते रहें, उनको टांग दें। इसके बाद साधक वा साधिका अपने मन, वचन और कर्म से कोई भी ऐसा कर्म न करें, जिससे किसी प्राणी अर्थात् मनुष्य, पशु वा पक्षी को किसी प्रकार का कष्ट

हो, या किसी का दिल दुखे।

यदि किसी से कभी भूलवश कोई ऐसा काम बन पड़े, जो किसी भी रूप में अहिंसा-व्रत के प्रतिकूल वा दूसरों के लिये कष्टजनक हो, तो साधक वा साधिका उसके लिये उचित प्रायश्चित करें। एक-सौ-एक बार अर्थ-विचार पूर्वक गायत्री-मन्त्र का जप प्रायश्चित के रूप में हो सकता है। खाने या पीने की किसी भी वस्तु का त्याग कुछ समय के लिये, या सदा के लिये प्रायश्चित के रूप में हो सकता है। प्रत्येक भूल वा प्रमाद के लिये कुछ आर्थिक-दण्ड भी प्रायश्चित के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। अर्थ-दण्ड का यह धन किसी गौशाला में, सार्वजनिक संस्था में, या किसी योग्य पात्र को दे दें। यदि कोई बड़ी भूल हुई हो, तो प्रायश्चित भी बड़ा ही करना चाहिये। ऐसा प्रायश्चित किसी अनुभवी हितैषी से पूछ कर करें।

जब एक सप्ताह, दो सप्ताह वा एक समय के अभ्यास से अहिंसा-व्रत का अभ्यास पक्का हो जाये, तब पूर्वोक्त रीति से ही दूसरे यम अर्थात् "सत्य" के पालन का व्रत भी धारण करें। इसका अभ्यास भी पहले के समान ही कागजों पर लिखकर करें। सत्य के अभ्यास के साथ ही "अहिंसा" का अभ्यास भी यथापूर्व हो

चलता रहेगा। अर्थात् साधकों को अब अहिंसा और सत्य दोनों व्रतों का पालन एक साथ करना होगा। प्रायश्चित आदि भी उसी प्रकार करने होंगे। फिर नियत काल के पश्चात् "अस्तेय-व्रत" को भी धारण करें। इसी प्रकार एक-एक करके सभी व्रतों को धारण करें और सबका पालन साथ ही साथ करते रहें। इस प्रकार यह व्रत-ग्रहण का कार्य दस सप्ताह, बीस सप्ताह वा दस मास में पूरा होगा। इनका अनुष्ठान और अभ्यास तो जीवन भर चलेगा।

यदि एक ही जीवन में मनुष्य मन, वचन और कर्म से यमों और नियमों का अभ्यास पूर्ण कर ले, तब तो वह बहुत बड़ी बात होगी। यह अभ्यास मानव-जीवन की आधार-शिला है। जितना-जितना यह अभ्यास दृढ़ होता जायेगा, उतना-उतना ही मनुष्य का जीवन भी शान्त, सुखी, स्वस्थ्य, समृद्ध, स्निग्ध और यशस्वी बनता चला जायेगा।



[१२]

यम-नियम-दर्शन

यमुना नगर, जिला अम्बाला में एक आश्रम है, जो कि वैदिक साधन-आश्रम कहलाता है। उस आश्रम में एक सुन्दर यज्ञ-शाला है। उस यज्ञ-शाला के बाह्य भाग में दीवारों पर पाँच यम और पाँच नियम भाष्य सहित अंकित हैं। एक स्थान पर एक आदर्श-वाक्य भी अंकित है। पूछने पर हमें बताया गया कि वे यम-नियम आदि स्वर्गीय पूज्यपाद श्री स्वामी आत्मानन्द जी महाराज ने अंकित करवाये थे। उन्होंने ही यम-नियमों का सूत्र रूप में भाष्य भी रचा था। भारत-विभाजन के बाद पूज्य स्वामी जी महाराज का निवास उस आश्रम में ही था। वे ही उस आश्रम के संस्थापक और संचालक भी थे। वे आदित्य ब्रह्मचारी, सुप्रसिद्ध विद्वान्, तपोवृद्ध, वेदादि शास्त्रों के मर्मज्ञ और सिद्ध योगी थे। उनका रचा हुआ यम-नियमों का तत्रांकित भाष्य यद्यपि संक्षिप्त एवं सूत्रवत् है, तथापि वह उद्बोधक, विचारोत्तेजक और मनन करने योग्य है। तद्यथा :—

१—अहिंसा—प्रेम का श्रेष्ठ स्रोत है।

२—सत्य—संगठन का जनक है।

३—अस्तेय—विश्वास का मूल है।

४—ब्रह्मचर्य—शक्तियों का भण्डार है।

५—अपरिग्रह—वैराग्य का स्तम्भ है।

६—शौच—सत्य का प्रकाश है।

७—सन्तोष—सुख का साधन है।

८—तप—क्षमा का आधार है।

९—स्वाध्याय—लक्ष्य का दर्शक है।

१०—ईश्वर-प्रणिधान—प्रभु में निज अर्पण है।

एक आदर्श वाक्य यह है :—

११—आत्म-शुद्धि—यम-नियमों से करो।

एक चेतावनी

सत्यार्थप्रकाश के तीसरे समुल्लास में महर्षि दयानन्द जी नें भी उस चेतावनी का उल्लेख किया है, जो कि महर्षि मनु ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ मनुस्मृति में यम-नियमों के साधकों के लिये दे रखी है, आवश्यक और महत्वपूर्ण होने के कारण हम उस प्रसंग को यहाँ पुनः उद्धृत करते हैं :—

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो, नियमान् केवलान् भजन् ।।
(मनु अध्याय ४ श्लोक २०४)

यम पांच प्रकार के होते हैं :—

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।।
(योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३०)

अर्थात् (अहिंसा) वैरत्याग (सत्य) सत्य मानना, सत्य बोलना, और सत्य ही करना (अस्तेय) अर्थात् मन, वचन, कर्म से चोरी [का] त्याग, (ब्रह्मचर्य) अर्थात् उपस्थेन्द्रियं का संयम (अपरिग्रह) अत्यन्त लोलुपता तथा स्वत्वाभिमान से रहित होना। इन पांच यमों का सेवन सदा करें। केवल नियमों का सेवन अर्थात् :—

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥
(योग-दर्शन, साधनपाद, सूत्र ३२)

(शौच) अर्थात् स्नान आदि से पवित्रता (सन्तोष) निरुद्यम रहना सन्तोष नहीं, किन्तु सम्यक् प्रसन्न होकर पुरुषार्थ जितना हो सके, उतना करना, हानि-लाभ में हर्ष वा शोक न करना (तप) अर्थात् कष्ट सेवन से भी धर्मयुक्त कर्मों का अनुष्ठान (स्वाध्याय) पढ़ना-पढ़ाना (ईश्वर-प्रणिधान) ईश्वर की भक्ति-विशेष से आत्मा को अर्पित रखना, ये पांच नियम कहाते हैं। यमों के बिना केवल इन नियमों का सेवन न करे, किन्तु इन दोनों का सेवन किया करे। जो यमों का सेवन छोड़ के केवल नियमों का सेवन करता है, वह उन्नति को नहीं प्राप्त होता। किन्तु अधोगति अर्थात् संसार में गिर जाता है।
(सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ३)

महर्षि दयानन्द सरस्वती यम-नियम स्वरूप धर्म के एक प्रबल प्रचारक, सिद्ध पुरुष थे। अपने संस्कार-विधि, ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका और सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में महर्षि दयानन्द ने यमों और नियमों का उल्लेख करके इनका महत्व विशेष रूप से दर्शाया है। सत्यार्थप्रकाश के तीसरे समुल्लास में प्राप्त महर्षि दयानन्द कृत एक व्याख्या प्रसंगवशात् ऊपर उद्धृत

की गई है। पाठकवृन्द इस व्याख्या का मनन विशेष रूप से करें। इसके साथ ही उस चेतावनी पर भी ध्यान दें, जो महर्षि मनु की ओर से यम-नियमों के साधकों को दी गई है, और जिसका अनुमोदन आधुनिक युग के एक बड़े योगी महर्षि दयानन्द ने भी किया है।

वह चेतावनी यह है कि मनुष्य यमों और नियमों दोनों का ही अनुष्ठान और अभ्यास करे। कोई यमों को छोड़कर केवल मात्र नियमों का ही अनुष्ठान और अभ्यास न करे। जो साधक नियमों का ही पालन करता है, उसका पतन हो जाता है। इस चेतावनी पर थोड़ा-सा विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यमों का स्थान और महत्व नियमों से बड़ा है। नियम तो वास्तव में यमों की साधना को सफल बनाने में साधन वा सहायक स्वरूप ही हैं। जीवन-निर्वाह कल्याण-साधन, किंवा अध्यात्म-वाद में यमों का स्थान और महत्व ही मुख्य है।

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान इन पांच नियमों का व्यवहार वा अनुष्ठान तो ढोंग, दम्भ, दिखावे और स्वार्थ-साधन के लिये भी हो सकता है। नहीं, हमें कहना चाहिये कि होता है, और हो रहा है। जिससे दिखावे, दम्भ, ढोंग और स्वार्थ-साधन के लिये

नियमों का अनुष्ठान किया, उसके पतन में सन्देह ही क्या है ? शोक है कि आज-कल मानव-जाति नियमों और विधि-विधानों की उलझनों में ही फँसी पड़ी है, और पतित होकर भारी कष्ट भोग रही है। जो धर्म का मर्म अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-स्वरूप मानवता का सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य है, उसकी ओर तो आज कल कोई-कोई मनुष्य कदाचित् ही ध्यान देता है।

इतना ही नहीं, चतुर लोगों ने यमों को भुलाकर नियमों को ही प्रधान पद दे डाला है। शौच ने छूत-अछूत का बखेड़ा फैला दिया। सन्तोष के नाम पर अकर्मण्यता फैल गई, वा फैला दी गई। तप के नाम पर भी आत्म-शोषण और पर-पीड़न के ही दृश्य दिखाई दे रहे हैं। स्वाध्याय की आड़ में बुरी बातों का प्रसार हो ही रहा है। ईश्वर-प्रणिधान के प्रसंग में भी ईश्वर-विश्वास नहीं, अपितु ईश्वर नाम का भावना-शून्य आलाप और मूर्ति-पूजा आदि का तमाशा-सा ही होता है। किसी कवि ने कैसी चुटकी ली है ?

रात-दिन मन्दिर ओ मस्जिद के हैं झगड़े रहते।
दिल में ईंटें हैं भरी, लब पै खुदा रहता है॥

इसी लिये नास्तिकता भी बढ़ती ही जा रही है:—

खुदा के बन्दों को देखकर ही,
खुदा से मुनकिर हुई है दुनिया।
कि ऐसे बन्दे हैं जिस खुदा के,
वह कोई अच्छा खुदा नहीं है॥

इधर नियम बन रहे हैं। उधर नियमों को तोड़ने के नियम भी बन रहे हैं। जब हम आजकल के तथा-कथित धार्मिक पुरुषों के क्रियात्मक जीवन पर विचार करते हैं, तब हमें प्रायः धर्म-शून्यता, नास्तिकता, ईश्वर-विमुखता और पाप-परायणता के ही दर्शन होते हैं। इस पर भी पापी लोग धर्म-धर्म पुकारते हैं। यह उनकी अनधिकार चेष्टा है। यह उनका दुस्साहस है। यह दम्भ है, ढोंग है। उनकी यह सम्पूर्ण लीला चोरों की चतुराई के समान और मानवता के लिये हानिकारक है।

जो खराबी केवल मात्र नियमों का पालन करने और यमों का पालन करने से फैलती है, उसकी बाबत शास्त्रकारों और अनुभवी योगियों ने पहले ही चेतावनी दे रखी है। इस चेतावनी को समझकर चलना ही उत्तम है। सुप्रसिद्ध नीति-शास्त्र "हितोपदेश" में दो श्लोक मिलते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में सहायक समझ कर हम उन्हें यहां लिखते हैं :—

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥
तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति ॥

धर्म के आठ मार्ग हैं—यज्ञ करना, पढ़ना, दान देना, तप करना, सत्य बोलना, धीरता, क्षमा और निर्लोभ होना । इनमें से प्रथम चार अर्थात् यज्ञ, पढ़ना, दान और तप, का उपयोग तो पाखंडी लोग भी दिखावे के लिये किया करते हैं । परन्तु दूसरे चार अर्थात् सत्य, क्षमा और अलोभ इन चारों का अनुष्ठान और व्यवहार तो महात्मा लोग ही किया करते हैं ।

किसी कवि ने ढोंगियों का कैसा सुन्दर कार्टून बनाया है :—

गीता पुस्तक हाथ, साथ विधवा, माला विशाला गले,
गोपी-चन्दन चर्चितं, सुललितं, भाले च वक्षस्थले ।
वैरागी नट, वा कलाल, पटवा, धोबी, धुना, धींवराः,
हा, वैराग्य ! कुतो गतः ? कलियुगे गुण्डाः परम वैष्णवाः ॥



महाव्रत

मनुष्य को दूसरे मनुष्यों, अथवा दूसरे प्राणियों के साथ जो व्यवहार करना चाहिये, उसी का विधान पाँच यमों के रूप में किया गया है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज के प्रति सद्व्यवहार करने से ही मनुष्य को सुख की प्राप्ति होती है। समाज के प्रति दुर्व्यवहार करने से मनुष्य को दुःख मिलता है। मनुष्य की बहिर्मुखी वृत्तियों का परिणाम तो अन्य मनुष्यों वा प्राणियों के साथ व्यवहार के रूप में ही निकलता है। यह व्यवहार कभी द्वेषमूलक होता है, और कभी रागमूलक।

मनुष्य की वृत्तियों के बहिर्मुखी प्रवाह को रोकने तथा उसे अन्तर्मुखी, सात्विक, सन्तुलित और दिव्य बनाने के लिये ही यमों की प्रवर्तना महर्षियों द्वारा की गई है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पांच यम हैं। दूसरों के प्रति किये जाने वाले व्यवहारों से इनका विशेष सम्बन्ध है। जब पाँच यमों का पालन दृढ़तापूर्वक होता है, तब मनुष्य का व्यवहार दूसरों के साथ उत्तम होता है। उस उत्तम व्यवहार की प्रतिक्रिया भी उत्तम ही होती है। इसके परिणामस्वरूप संसार के सुख-समुदाय में वृद्धि अवश्य

ही होती है। यह सुख की वृद्धि ही तो मानव-जीवन का चरम-लक्ष्य है।

मनुष्य का अपने प्रति जो कर्त्तव्य है, उसका विधान शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान, इन पांच नियमों के रूप में किया गया है। इन पांच नियमों का सम्बन्ध केवल मात्र मनुष्य के अपने ही व्यक्तिगत-जीवन से है। अथवा यूं कहें कि अपने शरीर, अपनी इन्द्रियों और अपने अन्तःकरण के विषयों में मनुष्य के जो कर्त्तव्य हैं, उनको ही शास्त्रीय भाषा में नियम कहा जाता है। नियमों के परिपालन से मनुष्य का जीवन सब प्रकार के मलों और सब प्रकार के अविद्या आदि आवरणों से भी रहित हो जाता है। नियमों का सम्पूर्ण वर्ग ही एक प्रकार का संशोधन-विधान है।

योग-दर्शनकार महर्षि पतञ्जलि ने योग-दर्शन के साधन-पाद के तीसवें सूत्र में यमों का विधान किया है। साधन-पाद के बत्तीसवें सूत्र में नियमों का उपदेश है। इन दोनों सूत्रों के बीच में जो इकत्तीसवां सूत्र है उसमें पांच यमों को सार्वकालिक, सार्वभौम, सर्व-हितकारी, सब के द्वारा प्रतिपालनीय और सभी प्रति-बन्धों से मुक्त महाव्रत कहा गया है। यम-नियमों के साधकों के लिये यह बात बड़े महत्त्व की है। योग-दर्शन

के साधन-पाद का उक्त इकत्तीसवाँ सूत्र यह है :—

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।

इसका अर्थ यह है कि पांचों यम ही जाति, देश, काल और समय अर्थात् विशेष नियमों या संकेतों के सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हैं। ये साधारण नहीं, अपितु महाव्रत हैं।

यमों के जाति और देश, काल आदि के सब बन्धनों से मुक्त होने का अभिप्राय क्या है ? अब इसका विचार कीजिये।

अहिंसा के विषय में कोई मनुष्य कहता है कि मैं ब्राह्मण को कष्ट न दूंगा। अथवा मैं गौ को कष्ट न दूंगा। ऐसी जातिगत संकीर्णता की मनोवृत्ति उचित नहीं है। किसी जातिविशेष की सीमा में ही अहिंसा के व्यवहार को सीमित न करना चाहिये।

पुनः कोई मनुष्य कहता है कि मैं हरद्वार, मथुरा, काशी या मक्के में किसी प्राणी को कष्ट न दूंगा। यह देशगत संकुचित वृत्ति भी अनुचित है। किसी भी स्थान पर किसी भी प्राणी को कष्ट न दिया जाये।

फिर कोई कहता है कि मैं मंगलवार को रविवार को या एकादशी को किसी को कष्ट न दूंगा। वह काल गत संकीर्णता ही अहिंसा-व्रत के पालन में बाधक है। किसी दिन भी किसी को न सताना चाहिये।

सूत्र में जो समय शब्द का प्रयोग है उसका अर्थ काल नहीं है। समय शब्द का अर्थ यहां पर नियम-विशेष या संकेत विशेष है। कोई मनुष्य कहता है कि मैं ब्राह्मण के लिये अथवा देवता के लिये ही पशुवध करूँगा। यह भी अनुचित है। ऐसे दूषित नियम बनाकर अहिंसा-व्रत को छोड़ना न चाहिये।

इसी प्रकार सत्य का भी विचार कीजिये। कोई मनुष्य कहता है कि मैं ब्राह्मण की रक्षा के लिये झूठ बोलूंगा। यह जातिगत संकीर्णता सत्यव्रत की बाधक है। कोई कहे कि मैं मथुरा में सत्य बोलूंगा। यह देश-गत संकीर्णता भी अनुचित है। और विशेष नियमानुसार सत्यभाषण जैसे कोई कहे कि मैं तो पैसा लेकर ही सत्य बोलूंगा। ये, और इसी प्रकार की सभी संकीर्णतायें सत्य-भंग करने वाली हैं।

अहिंसा और सत्य के समान ही अस्तेय का भी विचार है। मैं ब्राह्मण की चोरी न करूँगा। मैं मथुरा में चोरी न करूँगा। मैं मंगलवार को चोरी न करूँगा और मैं अकाल पड़ने पर चोरी न करूँगा। या अकाल पड़ने पर ही चोरी करूँगा। ये सब बातें भी अनुचित हैं। चोरी तो किसी को किसी भी अवस्था में न करनी चाहिये।

ब्रह्मचर्य को लीजिये। मैं ब्राह्मणी से व्यभिचार न करूँगा। मैं मथुरा में व्यभिचार न करूँगा। मैं मंगलवार को व्यभिचार न करूँगा। मैं रोगिणी से व्यभिचार न करूँगा। ये भी संकीर्णता की बातें हैं। सब को सर्वत्र ही सब प्रकार के व्यभिचार से बचना चाहिये। और सभी स्थानों, सभी दिनों, एवं सभी के प्रति ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना चाहिये।

शास्त्रकारों ने सन्तानोत्पत्ति के लिये वीर्यदान तथा वीर्य ग्रहण की जो अनुमति दे रखी है, अध्यात्मवाद के बड़े लाभों का विचार करने पर वह भी ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन में एक बाधा ही है। तभी तो कोई-कोई महामानव अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत का ही पालन किया करते हैं। सन्तानोत्पत्ति के शास्त्रीय प्रलोभनों को भी वे ठुकरा दिया करते हैं।

अपरिग्रह का विचार भी अन्य यमों जैसा ही है। सब प्रकार की जातिगत, देशगत, कालगत और विधान-गत संकीर्णताओं से बच कर अपरिग्रह व्रत का पालन करना चाहिये। जीवन की आवश्यकताओं को इतना कम, इतना कम कर दिया जाये कि अन्त में मनुष्य असंग और अवधूत वृत्ति से ही अपने आध्यात्मिक लाभों को सुरक्षित रखता हुआ जीवित रह सके।

साधना का फल

महर्षि पतञ्जलि ने योग-दर्शन के साधन-पाद में विस्तार-पूर्वक उन लाभों और सिद्धियों का उल्लेख किया है, जो कि साधकों को यमों और नियमों की साधना के परिपक्व होने पर प्राप्त होती हैं। अतः योग-दर्शन के साधन पाद के उस प्रकरण को प्रस्तुत करते हैं।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ॥३५॥

१—अहिंसा का अभ्यास दृढ़ होने पर सभी प्राणी योगी-साधक के प्रति वैर भाव का परित्याग कर देते हैं। साधक के अहिंसक प्रभाव से हिंसक प्राणी भी अहिंसक बन जाते हैं।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥३६॥

२—सत्य के पालन का अभ्यास दृढ़ होने पर साधक की प्रत्येक बात यथार्थ और पूरी होती है। उसकी प्रत्येक क्रिया सफल होती है। सत्यशीलता के कारण साधक अयथार्थ और असम्भव बातों से बचा रहता है। सत्यशील साधकों के भविष्य विषयक वचन भी पूर्णरूप से सत्य होते हैं। वे जो कुछ कहते हैं, वही होता है। वे कार्य-कारण-सम्बन्धों को विचार कर ही अपना वचन-व्यवहार करते हैं।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥३७॥

३—अस्तेय की दृढ़ता होने पर अभ्यासकर्ताओं

को सभी रत्नों की प्राप्ति होने लगती है। कोई अभाव उन्हें नहीं होता।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥३८॥

४—ब्रह्मचर्य का पालन करने से साधक को वीर्य-लाभ होता है अर्थात् उसके बल, स्वास्थ्य, ओज, तेज, प्रभाव और मनोबल की वृद्धि होती है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथयन्तासम्बोधः ॥३९॥

५—अपरिग्रह का अभ्यास पक्का होने पर साधक को पिछले जन्मों और आगामी जन्म का भी बोध प्राप्त हो जाता है। इसका कारण यह है कि अपरिग्रह की दृढ़ता होने पर मनुष्य अहंकार के बन्धन अर्थात् मेरे, तेरे के भेद-भाव से छूट जाता है। यह अहंकार ही तो जीवात्मा को जन्म-मरण के चक्कर में घुमाता है।

शौचात् स्वांगजुगुप्सा परै रसंसर्गः ॥४०॥

६—शौच का अभ्यास दृढ़ होने पर साधकों को अपने अंगों से भी घृणा हो जाती है। दूसरों के संग को छोड़ कर वे एकान्तवासी बन जाते हैं। उनकी दृष्टि में उनका अपना शरीर ही गन्दगी का भण्डार बन जाता है, तब दूसरों के शरीरों का मोह भी उनसे छूट जाता है,

यह फल बाह्य पवित्रता का है। जो फल आन्तरिक पवित्रता का है, वह आगे दर्शाया है:—

सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च. ॥४१॥

शौच की दृढ़ता होने पर साधक का चित्त शुद्ध हो जाता है, उसका मन स्वच्छ रहता है। एकाग्रता-लाभ के साथ ही वह अपनी इन्द्रियों पर विजय भी प्राप्त कर लेता है। इतना ही नहीं, उसे आत्म-दर्शन की योग्यता भी प्राप्त हो जाती है।

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ॥४२॥

७—सन्तोष का अभ्यास दृढ़ होने पर साधकों को जो सुख प्राप्त होता है, उसे उपमा देकर या किसी सुख से उसको तुलना करके नहीं समझाया जा सकता। वह सुख तो उत्तम से भी उत्तम होता है। तृष्णा का पूर्ण क्षय होने पर जो सुख साधकों को प्राप्त होता है, उसकी तुलना में ये सांसारिक विषय-वासना-जन्य सुख कुछ भी नहीं हैं।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥४३॥

८—तप का परिपाक होनेपर साधक के शरीर और उसकी इन्द्रियों की शुद्धि होती है। जिस प्रकार अग्नि में तपाने से धातुओं के मल भस्म हो जाते हैं, ऐसे ही तप के द्वारा साधकों के जीवन भी मलरहित हो जाते हैं।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥४४

९—स्वाध्याय के द्वारा साधकों को इष्ट ज्ञान की

प्राप्ति होती है। वेद में मन्त्र के विषय को देवता कहते हैं। वेदाभ्यास को ही स्वाध्याय कहते हैं। कोई-कोई विद्वान् इस सन्दर्भ में देवता शब्द से जड़ देवताओं अथवा पौराणिक देवताओं को ग्रहण किया करते हैं। उनका ऐसा करना अनुचित है।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥४५॥

१०—ईश्वर-प्रणिधान का अभ्यास दृढ़ होने पर साधकों को समाधि की प्राप्ति होती है। पाठकों को भूलना न चाहिये कि ईश्वर की स्तुति करने से ईश्वर में प्रीति बढ़ती है। ईश्वर-प्रार्थना से साधकों को विनम्रता आदि गुणों की प्राप्ति होती है, और ईश्वर की उपासना से सब दुःखों का नाश होकर आनन्द मिलता है। ईश्वर-विश्वास की दृढ़ता होने पर साधकों को समाधि की सिद्धि शीघ्र ही मिल जाती है। समाधि की प्रज्ञा प्राप्त होने पर साधक पुरुष देशान्तरों, कालान्तरों और देहान्तरों के विषय में भी सब कुछ यथावत् जान लेते हैं।



कल्याण-साधान

भूम्या अन्तं पर्य्येके चरन्ति,
रथस्य घूर्षु युक्तासु अस्थुः ।
श्रमस्य दायं विभजन्ति एभ्यो,
यदा यमो भवति हर्म्ये हितः ॥

ऋग्वेद १० । ११४ । १० ॥

शब्दार्थः—(एके) कोई-कोई मनुष्य (भूम्याः पृथ्वी के (अन्तम्) ओर-छोर तक (परिचरन्ति) विचरण करते हैं। और कोई-कोई (रथस्य) रथ की (युक्तासु) सुन्दर बैलों से युक्त (घूर्षु) धुरियों पर, गद्दियों पर (अस्थुः) बैठते हैं (एभ्यः) इनके लिये (श्रमस्य) परिश्रम का (दायम्) फल, मूल्य, मजदूरी (विभजन्ति) बांटते हैं देते हैं, तब (यदा) जबकि (हर्म्ये) उनके घर में (यमः) यम=ईश्वर, राजा, नियामक पुरुष, संरक्षक, सुदृढ़ अनुशासन, सुव्यस्थित जीवन (हितः भवति) हितकारी होता है, अथवा स्थिर होता है।

भावार्थ—कोई-कोई मनुष्य पृथ्वी के ओर-छोर तक भागे-भागे और मारे-मारे फिरते हैं, परन्तु उनको अपने परिश्रम का फल प्राप्त नहीं होता। कोई-कोई मनुष्य रथ, मोटर, पालकी आदि में बैठतें हैं, फिर भी उनको बारम्बार विफलताओं का ही सामना करना पड़ता है। परिश्रम का उचित फल तो केवल उनको ही प्राप्त होता है, जिनके ऊपर भगवान् राजा और गुरु की विशेष कृपा होती है, तथा जिनके घर में अच्छी व्यवस्था होती है।

प्रवचन

कोई-कोई मनुष्य पृथ्वी के उस छोर से इस छोर और इस छोर से उस छोर तक, भागे-भागे फिरते हैं। दुर्गम पर्वतों को लांघते हैं, नदी-नालों को फांदते हैं, समुद्रों को चीरते हैं, भूमि में सुरंग बनाते हैं, पक्षिवत् आकाश में उड़ जाते हैं, कठोर तप तपते हैं, और असाधारण कृत्य कर डालते हैं। अपनी कार्यसिद्धि के लिये वे हाथी, घोड़े, रथ, पालकी, रेल, मोटर, जलयान, नभोयान प्रभृति साधनों का और अन्य अनेकविध वैज्ञानिक उपकरणों का उपयोग भी करते हैं। परन्तु फिर भी उनको उनकी मनचाही सफलता प्राप्त नहीं होती। उनके मनोरथ मन के मन में ही मर जाते हैं। उनका सारा परिश्रम व्यर्थ ही चला जाता है। संसार में ऐसे-ऐसे दृश्य दृष्टि-पथ में प्रायः आते ही रहते हैं। अपने आस-पास ही हमें इस प्रकार के बहुत से उदाहरण मिल जायेंगे। दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रसंग में अपनी-अपनी विफलताओं का विचार भी हमें मन ही मन कर लेना चाहिये।

कार्यसिद्धि के कुछ निश्चित नियम हैं। कार्य चाहे

जो भी हो, उसकी सफलता के लिये उन निश्चित नियमों के अनुसार आचरण करना परम आवश्यक है। जितनी-जितनी उन नियमों की उपेक्षा की जायेगी, उतनी-उतनी ही सफलता की सम्भावनायें कम होती चली जायेंगी। यदि उन नियमों का उल्लंघन अथवा उनके विरुद्ध आचरण किया जायेगा, तब तो असफलता का होना भी निश्चित ही है। लोग व्यवस्था के अभाव, अनुशासन-हीनता, नियमों के उल्लंघन और सफलता प्राप्ति के विरुद्धघोर उच्छृङ्खलतापूर्ण व्यवहार करते हुए भी, सफलता प्राप्ति की आशा किया करते हैं। देखो, यह कैसी विचित्र विडम्बना है? हो सकता है कि कभी अन्धे का तीर निशाने पर लग जाये, परन्तु ऐसा कोई अपवाद-स्वरूप उदाहरण सफलता प्राप्ति के निश्चित नियमों के महत्व को किसी प्रकार से घटा नहीं सकता। सफलता-प्राप्ति के लिये नियमबद्धता अर्थात् अनुशासन और व्यवस्था का होना परमावश्यक है। तभी तो उत्तम नियमों के उल्लंघन को पाप और अपराध माना जाता है।

लोग अपनी-अपनी विफलताओं के रोने रोते हैं, उचित वेतन वा प्रतिफल न मिलने की शिकायतें करते हैं, दूसरों को दोष देते हैं। आत्म-निरीक्षण वे क्यों नहीं करते? वे अपने अतीत और वर्तमान के कार्य-कलाप का

विचार करके यह क्यों नहीं देखते कि उनके जीवन में अनुशासन का अर्थात् आत्म-संयम, नियम-बद्धता, सुव्यवस्था, कर्त्तव्य-परायणता और सत्य-प्रेम का क्या स्थान है। उनको अपने घर, दुकान, दफ्तर, कारखाने और खेत आदि की व्यवस्था का पूरा हाल भी जानना चाहिये। वे यह भी देखें कि उनको अपनी कुटिलताओं, उच्छृङ्खलताओं, स्वार्थपूर्ण लीलाओं और पर-पीड़ा-परायणताओं से कितना अधिक मोह है ?

स्मरण रहे—व्यर्थ की उच्छृङ्खलता, कूद,-दौड़-भाग और विधि-शून्य एवं नियम-विरुद्ध आचरण का नाम पुरुषार्थ नहीं है। एक निश्चित ध्येय की सिद्धि के लिये, एक निश्चित योजना के अनुसार, अपनी पूर्ण शक्ति से, पूर्ण धैर्य से पूर्ण संलग्नता के साथ, निरन्तर पूर्ण सफलता प्राप्त होने तक, कार्य करने का नाम ही पुरुषार्थ है। विफलता तो आलस्य, प्रमाद, उच्छृङ्खलता, संयम-शून्यता और दूषित मनोवृत्ति आदि का ही अवश्यम्भावी परिणाम है। फिर शिकायत क्यों ?

करनी करे तो फल भरे, करके क्यों पछताये ?
बोये पेड़ बबूल के, आम कहाँ से खाये ?

पाठक यहाँ ऊपर मुद्रित वेद मन्त्र के "यम" शब्द पर, उसके अर्थगाम्भीर्य एवं प्रयोग-सौन्दर्य पर भी

विचार करें। वेदों में "यम" शब्द के ईश्वर, राजा, आचार्य, नियम, सेनापति, वायु, सूर्य, काल, नियामक, अनुशासक, व्यवस्थापक, व्यवस्था, धर्माचरण आदि-आदि प्रसंगानुसारी अनेक अर्थ होते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में ये सभी अर्थ विचार-पूर्वक ग्रहण किये जा सकते हैं। बदल-बदल कर एक-एक अर्थ को ग्रहण करने से इस मन्त्र के नये-नये अर्थ दृष्टि-पथ में आते हैं। मनन का नया-नया आनन्द प्राप्त होता है, और वेद की चमत्कार पूर्ण शब्द-योजना के प्रति पाठक एवं मननकर्ता जन श्रद्धा-पूर्वक नतमस्तक हो जाते हैं।

भगवान् भी उनकी ही सहायता किया करते हैं, जो अपनी सहायता आप करते हैं। राजा, सेनापति और गुरुजनों की कृपा भी उनके लिये ही फलवती होती है, जो पुरुषार्थी, संयमी, अनुशासनप्रिय और योग्यतम होते है। घरों में, दुकानों में, कल-कारखाने में, खेतों में, कार्यालयों में और सब प्रकार के कामों में अनुशासन तथा सुव्यवस्था को ऊँचा स्थान देकर ही हम शक्ति के अपव्यय को रोक सकते हैं। इस रीति से राग, द्वेष और मनो-मालिन्य को भी दूर हटाया जा सकता है। मानव-जीवन की सफलता के बड़े-बड़े चमत्कार संसार के सामने प्रस्तुत करने का मार्ग भी

यही है। जब हितकारी यम किसी कर्मयोगी व्या के शरीर में, घर में एवं जीवन में आकर प्रतिष्ठित हो जाता है, तब उसे उसके पुरुषार्थ का उत्तम फल अवश्य ही प्राप्त होता है।

वेद के प्रस्तुत सन्दर्भ में जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है, वह जीवन के सभी अंगों और कार्य के क्षत्रों में सत्य सिद्ध होता है। भूमण्डल के सभी प्रदेशों के लिये यह सिद्धान्त एक समान ही उपयोगी और व्यावहारिक है। परिश्रम और पूँजी के विवाद, राजनीति के झगड़े बखेड़े, सामाजिक-जीवन के सभी पचड़े, व्यक्तिगत जीवन के शोक सन्ताप-समूह, सब इस एक ही नियम अर्थात् जीवन में सर्वहितकारी यम-संयम की प्रतिष्ठा के द्वारा सहज में ही और निश्चित रूप से दूर किये जा सकते हैं। व्यवस्था और अनुशासन के अभाव में सफलतायें भी विफलताओं का रूप धारण कर लेती हैं।

आओ, संयम के सिद्धान्त को अपने जीवन में धारण करें। आओ, हम मन, वचन और कर्म से पूर्ण सदाचारी बनें। आओ, हम मानवता के सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त करके अपना जीवन सफल करें।



वि



यमनियम-प्रदी

कारो

वं